प्रकाशक : परमेश्वरी प्रकाशन
बी-109, प्रीत विहार, दिल्ली-110 092

संस्करण : 1990

मूल्य : बीस रुपये

Printed at Shiba offset Press, Delhi-110 09

SACHCHE BACHCHE : KITANE ACHCHE (Hindi)
by Devdutta Dwivedi Price Rs. 20-00

सम्पादक की ओर से

सच्चे बच्चे कितने अच्छे !
जितना अच्छा आकाश में चमकता एक चांद !
आकाश में भले ही हजारों तारे क्यों न हों !
पर उनसे रात का अंधेरा दूर नहीं होता।
लेकिन एक अकेला चांद—
धरती-आकाश को प्रकाश से भर देता है।
जैसे सैंकड़ों टिमटिमाते तारों से एक चांद अच्छा होता है !।
वैसे ही सैंकड़ों कुपूतों से भी एक सच्चा बच्चा अच्छा होता है।

भारत मां को ऐसे ही 'सच्चे बच्चे' चाहिएं जो जीवन के हर क्षेत्र में सच्चे हों—

जो घर में सच्चे सपूत हों।
जो नगर में सच्चे नागरिक हों।
जो विद्यालय में सच्चे विद्यार्थी हों।
जो मैदान में सच्चे खिलाड़ी हों।
जो देश के सच्चे सेवक हों।
जो सच्चे नेता और सच्चे सैनिक हों।
जो तन-मन से सच्चे हों।

ऐसे सच्चे बच्चों की भारत मां को बहुत आवश्यकता है। क्योंकि कुछ वर्ष पहले हमारे देश में अंग्रेजों का शासन था। लगभग दो-तीन

सौ वर्षों तक उन्होंने हमारे देश में अन्याय, अत्याचार और झूठ का प्रचार किया जिससे हम लोगों में झूठ की जड़ें जम गईं। जनता में बेईमानी, रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार का बोलबाला दिखाई देने लगा। ये एक अच्छे राष्ट्र की निशानियां नहीं हैं। इसलिए अपने देश को फिर से ऊंचा उठाने के लिए हजारों-लाखों ऐसे बच्चों की आवश्यकता है जिनका सचाई में पूरा विश्वास हो।

जिन्हें झूठ से घृणा हो।

जिन्हें बड़े से बड़ा लालच भी न गिरा सके।

जिनमें बलिदान की भावना हो।

जो स्वयं भी सच्चे हों और जो दूसरों को भी सच्चा और ईमानदार बनने की प्रेरणा दे सकें। ऐसे सच्चे बच्चे ही बड़े होकर देश के सच्चे नागरिक और नेता बनेंगे। तब कोई बेईमान, रिश्वतखोर और देशद्रोही दिखाई नहीं देगा।

ऐसे कुछ सच्चे बच्चों की सच्ची कहानियां इस पुस्तक में लिखी गई हैं जिन्हें पढ़कर हमारे देश के बालक और बालिकाएं यह समझ सकेंगे कि सच्चे बच्चे बनने के लिए हमें क्या करना चाहिए? सच्चाई का मूल्य क्या है? ये कहानियां बहुत सरल और रोचक भाषा में लिखी गई हैं।

—देवदत्त द्विवेदी

क्रम



सबसे सच्चा बच्चा

पांच पांडव कुमार और एक सौ कौरव राजकुमार गुरु के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए गए। गुरुजी ने पहले दिन उनको पहला पाठ पढ़ाया—

'सत्यम् वद' अर्थात् सच बोलो।

पाठ पढ़ाकर गुरुजी ने शिष्यों को आदेश दिया—ब्रह्मचारियो, इस पाठ को अच्छी तरह याद करो। मैं कल तुमसे सुनूंगा।

अगले दिन निश्चित समय पर सब शिष्य गुरुजी के पास उपस्थित हुए और बोले—गुरुजी, हमें पाठ याद हो गया है। गुरुजी ने सुनाने को कहा तो एक सौ चार शिष्यों ने गुरुजी द्वारा

कल का पढ़ाया हुआ पाठ वैसा का वैसा अपने मुंह से बोल कर सुना दिया—

'सत्यम् वद' अर्थात् सच बोलो।

केवल युधिष्ठिर चुप बैठा रहा।

गुरुजी ने उसकी ओर देखकर कहा—"युधिष्ठिर, सबने कल का पाठ सुना दिया। तुम क्यों चुप खड़े हो? तुम भी सुनाओ!"

युधिष्ठिर हाथ जोड़कर बोला—"गुरुजी, मुझे पाठ याद नहीं हुआ।"

"कोई बात नहीं। कल याद करके सुना देना।" यह कहकर गुरुजी ने युधिष्ठिर सहित सब राजकुमारों को छुट्टी दे दी। एक सौ चार राजकुमार युधिष्ठिर की तरफ आश्चर्य से देखने लगे और कानाफूसी करने लगे—इसके दिमाग में भूसा भरा है। इतना-सा पाठ भी याद नहीं कर सका तो आगे क्या पढ़ेगा? युधिष्ठिर की तरफ देखकर कई राजकुमार हंसे और कइयों ने उसकी खिल्ली उड़ाई।

अगले दिन पाठशाला के समय फिर सारी श्रेणी कक्षा में उपस्थित हुई। फिर गुरुजी ने सबसे पाठ सुनाने को कहा। सबने उसी तरह फटाफट तोता रटंत की तरह वही पाठ दुहरा दिया।

लेकिन फिर युधिष्ठिर चुप।

फिर गुरुजी ने उससे वही प्रश्न किया—"युधिष्ठिर, क्या आज भी तुम्हें पाठ याद नहीं हुआ?"

"नहीं, गुरुजी!" युधिष्ठिर ने यह कहकर अपना सिर झुका दिया। आज फिर शेष सारे राजकुमार युधिष्ठिर की तरफ आश्चर्य से देखने लगे।

आज फिर गुरुजी ने युधिष्ठिर को पहले दिन की तरह

कहा—"कल याद करके मुझे सुना देना।"

तीसरे दिन भी ठीक पहले दो दिनों जैसी घटना ही घटी। सब राजकुमारों ने वैसे ही झटपट पाठ सुना दिया; पर युधिष्ठिर फिर भी चुप रहा।

गुरुजी ने फिर पूछा—"क्यों युधिष्ठिर, क्या आज भी तुम्हें पाठ याद नहीं हुआ ?"

"अभी थोड़ा-थोड़ा भूलता हूं गुरुजी ! अच्छी तरह याद नहीं है।" युधिष्ठिर ने नम्रता से निवेदन किया।

"अच्छा, जब अच्छी तरह याद हो जाए तभी तुम मेरे पास आना।" यह कहकर गुरुजी ने युधिष्ठिर को जाने की अनुमति दे दी।

इसके बाद एक दिन बीता। दूसरा दिन भी समाप्त हुआ। तीसरे दिन सूर्योदय होकर सूर्यास्त भी हो गया। इसी प्रकार चौथा, पांचवां और छठा भी खत्म हो गया; पर युधिष्ठिर पाठ सुनाने के लिए उपस्थित न हुआ।

गुरुजी बड़ी उत्सुकता से हर रोज युधिष्ठिर के आने की प्रतीक्षा करते थे। पर पूरे पन्द्रह दिन युधिष्ठिर श्रेणी में न आया।

सोलहवें दिन जब वह उपस्थित हुआ तो सब राजकुमार उसका तमाशा देखने के लिए आंखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखने लगे।

गुरुजी ने बड़ी उत्सुकता से पूछा—"कहो युधिष्ठिर, आज तो पाठ याद हो गया होगा ?"

"निश्चय ही आज मुझे पूरा पाठ याद है"—युधिष्ठिर ने दृढ़ता से कहा।

"तो सुनाओ !" गुरुजी ने आदेश दिया।

युधिष्ठिर ने सुना दिया—'सत्यम् वद' अर्थात् सच बोलो।

गुरुजी ने उसे शाबाशी देते हुए पूछा—"युधिष्ठिर, यह पाठ तो केवल दो शब्दों का था, पर इसे याद करने में तुम्हारे जैसे बुद्धिमान बालक को पन्द्रह दिन कैसे लग गए ?"

युधिष्ठिर ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—"गुरुजी, इस पाठ के दो शब्दों को मुंह से बोलकर सुना देना सचमुच कठिन नहीं। लेकिन जब तक मैं सचमुच सच बोलने का पूरा अभ्यास न कर लेता, इस पर आचरण न करता, तब तक मैं कैसे कहता कि मुझे पाठ याद हो गया है ? दो शब्द तो तोता भी रटकर सुना सकता है। लेकिन मुझे इस पाठ को याद करने में पन्द्रह दिन इसलिए लगे कि मैं सत्य बोलने, सत्य करने और सत्य सोचने का अभ्यास करता रहा। बहुत प्रयत्न करने पर भी कभी मेरे मुख से जाने-अनजाने असत्य बात निकल जाती थी। मुंह से झूठ बोलना छूटा तो कभी-कभी मन में झूठा विचार आ जाता था। इस प्रकार जब तक झूठ का एक भी अंश शेष रहा हो, तब तक मैं कैसे कहता कि मुझे पाठ याद हो गया है ? वह तो गुरु के सामने झूठ बोलना होता। इसलिए गुरुजी, क्षमा करें कि मेरे कारण आपको इतना कष्ट हुआ !"

गुरुजी ने गद्गद होकर युधिष्ठिर को गले से लगाते हुए कहा—"बेटा, तुम्हीं मेरे सबसे सच्चे शिष्य हो, सच्चे बच्चे हो और सत्य बोलने का पाठ तुम्हीं ने सबसे अच्छी तरह याद किया है।"

सच्चा शिष्य : नचिकेता

वाजश्रवा जब पचास वर्ष से अधिक आयु के हो गए तो उन्होंने गृहस्थ के झंझट और पचड़े त्याग कर वनों में प्रस्थान करने की सोची। शास्त्र के नियमानुसार उन्होंने अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग अपने पुत्रों आदि के नाम कर दिया और शेष दान में दे दिया। उनकी गोशाला में सहस्रों गऊएं थीं। वे भी उन्होंने ब्राह्मणों को दान में दे दीं।

जब वे गऊएं दान कर रहे थे तो वाजश्रवा का पुत्र नचिकेता दान-दक्षिणा का यह सब कार्य पास खड़ा देख रहा था। पिताजी को अकेला देखकर वह बड़ी नम्रता से उनके पास गया और बोला—"पिताजी, ये जो गऊएं आप ब्राह्मणों को दान कर रहे हैं वे तो बूढ़ी हो चुकी हैं। उनमें आधी से अधिक तो अधेड़ आयु की हैं। शेष में से कुछ के दांत गिर चुके हैं और कुछ के थन सूख से गए हैं। कुछ के बछड़े उनके साथ नहीं हैं और कुछ तो इतनी बूढ़ी हो चुकी हैं कि अब उन्हें भी वानप्रस्थी ही बन जाना चाहिए। मेरे विचार में ऐसी गऊएं दान देने से कोई लाभ नहीं। इसलिए जिस दान का आपको गर्व है, वह दान सच्चा दान नहीं है। अतः आपको चाहिए कि ब्राह्मणों को हृष्ट-पुष्ट और दुधारू गऊएं दान करें।"

पिता ने पुत्र की ये बातें सुनकर चिढ़कर कहा—"छोटा मुंह

और बड़ी बात करता है। मुझे यह नसीहत देने के लिए किसने कहा? अभी तो तू कल का बच्चा ही है और चला है मुझे उपदेश देने। जा-जा, अपना काम कर, मैं जैसा जी चाहेगा करूंगा। जिसे जो जी चाहेगा दूंगा। तू कौन होता है बीच में टांग अड़ाने वाला!"

पिता की घुड़की खाकर नचिकेता तनिक भी नाराज न हुआ और उसने उसी प्रकार नम्रता से हाथ जोड़कर पूछा—"पिताजी, आप अपनी घर-गृहस्थी का सब कुछ दान कर रहे हैं। मैं भी तो आपका ही पुत्र हूं। आप मुझे दान में किसको देंगे?"

पिता क्रोध में थे ही। बोले, "मैं तुझे 'यम' अर्थात् मृत्यु को सौंपूंगा।"

पिता ने क्रोध में यह बात मुंह से कह तो दी लेकिन नचिकेता ने उसे ही आज्ञा के रूप में गांठ बांध लिया। उसने निश्चय कर लिया कि जब मेरे पिता मुझे यम को सौंपना चाहते हैं, तो मैं भी यम के पास जाकर ही रहूंगा।

उधर पिता के वन को प्रस्थान करने की देर थी कि नचिकेता यम की तलाश में घर से निकल पड़ा। वह लोगों से पूछता जाता था कि यम मुझे कैसे और कहां मिलेगा? लेकिन साधारण लोग उसे कैसे समझाते कि यमराज के हवाले होने का क्या मतलब है? सच पूछो तो नचिकेता को स्वयं भी पता नहीं था कि पिता के वचन का क्या मतलब था और यमराज कहते किसे हैं?

आखिर चलते-चलते उसे एक दिन विद्वान् पुरुष मिला। नचिकेता ने अभिवादन करके उससे पूछा कि यमराज को मिलने का तरीका क्या है?

विद्वान् पुरुष बोला—"हे बालक, पहले तुम मुझे बताओ कि तुम यमराज से क्यों मिलना चाहते हो?"

नचिकेता ने उसे सारी घटना ज्यों की त्यों कह सुनाई कि किस प्रकार उसके पिता ने क्रोध में आकर उसे कहा—"मैं तुझे यम को सौंपूंगा।"

विद्वान् पुरुष बोला—"अब मैं समझा कि यम से तुम्हारे पिता का मतलब यमराज या मृत्यु नहीं है अपितु उनका मतलब यमाचार्य से है जो आत्म-विद्या के आजकल सबसे बड़े गुरु हैं। निश्चय ही तुम्हारे पिता चाहते हैं कि तुम यमाचार्य के आश्रम में जाकर उनसे आत्म-विद्या की दीक्षा लो।"

बस, फिर क्या था, नचिकेता रास्ता पूछते-पूछते यमाचार्य के आश्रम में जा पहुंचा। संयोगवश उस समय यमाचार्य घर पर नहीं थे। आचार्यानी ने ब्रह्मचारी देखकर उसका स्वागत किया और कहा—"बेटा, तुम आश्रम में सुखपूर्वक विश्राम करो जब तक आचार्य जी आ नहीं जाते। हो सकता है उन्हें लौटने में कई दिन लग जाएं। अब चलकर तुम अन्न-जल ग्रहण करो।"

नचिकेता ने आचार्यानी को प्रणाम करके हाथ जोड़कर निवेदन किया कि मैं गुरु-दर्शन के बिना अन्न-जल ग्रहण नहीं कर सकता, क्योंकि मेरे पिता का यही आदेश है। इसलिए जब तक आचार्यजी लौट नहीं आते, तब तक मैं व्रती रहकर उनकी प्रतीक्षा करूंगा। उपवास से मेरा शरीर और मन दोनों पवित्र हो जाएंगे, पवित्र रूप से गुरु-दर्शन करने पर और भी अधिक लाभ होगा।

आचार्यानी ने उसे रहने को कुटिया और सोने को बिछौना देना चाहा; लेकिन नचिकेता ने यह कहकर उन्हें अस्वीकार कर दिया—"गुरु-दर्शन से पूर्व मैं न विश्राम करूंगा और न क्षणभर के लिए सोऊंगा, बल्कि मैं दिन-रात भगवान् के नाम का जप करते हुए आश्रम के द्वार पर ही आचार्य जी के लौटने की प्रतीक्षा करूंगा।" ब्रह्मचारी के दृढ़ संकल्प को देखकर आचार्यानी को उसकी बात माननी पड़ी और उसने बड़ी अनिच्छा से नचिकेता

को व्रती रहने की अनुमति दे दी।

तीन दिन, तीन रात्रि तक आचार्य लौटकर न आए। सर्दियों के दिन थे। दिन को सूर्य के प्रकाश से कुछ सहारा मिलता, लेकिन रात को कड़ी ठंड पड़ती और लोग रजाइयों में भी ठिठुरते रहते। ऐसी कठिन रात्रि में भी बालक नचिकेता शरीर पर मात्र लंगोटी पहने, नंगी धरती पर आसन लगाए प्रभु का नाम स्मरण करता रहा। न उसने कुछ खाया और न पीया। पूरे तीन दिन और तीन रात वह जागता रहा और ध्यानमग्न होकर आत्मचिन्तन करता रहा।

चौथे दिन जब यमाचार्य यात्रा से लौटकर आए तो अपने द्वार पर एक अपरिचित ब्रह्मचारी को ध्यानमग्न देखकर पहले तो कुछ चकित हो गए, फिर उन्होंने उससे वहां आने का कारण पूछा।

साक्षात् यमाचार्य को अपने सामने खड़े देखकर नचिकेता ने उठकर उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया और फिर हाथ जोड़कर बोला—"गुरुवर, मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे आपके चरणों में रहकर उत्तम विद्याओं की दीक्षा लेने की आज्ञा दी है। संयोगवश पिछले तीन दिनों से आप यात्रा पर गए हुए थे। इसलिए आपके दर्शन न हो सके। इस समय का लाभ उठाकर मैंने व्रत और उपवास से अपने शरीर और मन को शुद्ध कर लिया है। यदि आप मुझे अधिकारी समझें तो अपने चरणों में स्थान देकर अनुगृहीत करें।"

नचिकेता की दृढ़ता और उत्सुकता को देखकर आचार्य बहुत प्रसन्न हुए और बोले—"वत्स, आश्रम में तुम्हारा स्वागत है। यहां तुम सुखपूर्वक रहो। लेकिन मैं जानना चाहता हूं कि तुम किस विद्या की प्राप्ति के लिए यहां मेरे पास आए हो?"

प्रश्न के उत्तर में नचिकेता ने भी प्रश्न किया—"आचार्य,

आप मुझे बताइए कि सब विद्याओं में उत्तम विद्या कौन-सी है ?"

यमाचार्य ने कहा—"सबसे उत्तम विद्या तो आत्म-विद्या को माना जाता है। वही सब विद्याओं में श्रेष्ठ है।"

नचिकेता ने कहा—"तो, आचार्य, आप मुझे आत्म-विद्या की ही शिक्षा दीजिए।"

यमाचार्य ने नचिकेता के भोलेपन पर मुस्कराते हुए कहा, "बेटा, अभी तुम बहुत छोटे हो। सीखने को संसार में अनेक विद्याएं हैं। उनमें से जिस विद्या में तुम्हारी रुचि हो, वही मैं तुम्हें सिखा सकता हूं। और यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हें बहुत-सा धन और सम्पत्ति भी दिलवा सकता हूं। तुम्हारे कठिन तप को देखकर मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूं। मांगो, तुम मुझसे क्या मांगना चाहते हो ?"

"आचार्य जी, न मुझे धन चाहिए और न सम्पत्ति। ये वस्तुएं तो संसार में अनपढ़ और अज्ञानी लोगों के पास भी प्राप्त हो सकती हैं। फिर मेरे पिता ने मुझे आपके पास किसी खास मतलब के लिए भेजा है। यदि मैंने साधारण विद्या ही प्राप्त करनी होती, तो मेरे पिता मुझे किसी अन्य गुरु के पास भी भेज सकते थे। किन्तु वहां न भेजकर उन्होंने मुझे केवल आपके पास ही भेजा है। यदि मैं संसार के सबसे महान् गुरु के पास आकर भी छोटी-मोटी विद्याएं, धन-सम्पत्ति प्राप्त करके लौट जाऊं तो मुझे सयाना कौन कहेगा ? मैं आपसे वह वस्तु प्राप्त करना चाहता हूं जो मुझे दुनिया में और कहीं नहीं मिलती और जो सबसे श्रेष्ठ है। अब गुरुदेव, आप ही बताइए कि ऐसी वस्तु कौन-सी है ?" नचिकेता ने एक ही सांस में ये सब बातें एक साथ कह डालीं।

यमाचार्य ने उसे समझाते हुए कहा—"निश्चय ही ऐसी

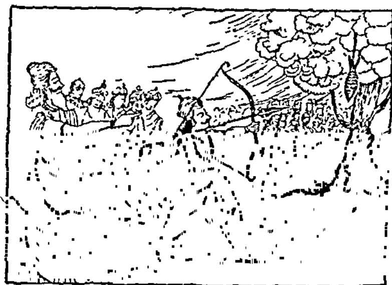
उत्तम विद्या तो आत्म-विद्या ही है, लेकिन उसके लिए अभी तुम्हारी आयु बहुत छोटी है। मेरी तुम्हें यह सलाह है कि अभी तुम अपने घर लौट जाओ और वहां कुछ वर्ष सुखपूर्वक रहो। सुखी जीवन बिताने के लिए तुम्हें जितने भी धन की आवश्यकता हो, मैं तुम्हारे लिए उसका प्रबन्ध कर सकता हूं।"

अब तक नचिकेता शान्त भाव से बैठा था। अब वह भावुकतावश उठ खड़ा हुआ और आचार्य के चरण पकड़ कर बोला, "आचार्य जी, विद्या-प्राप्ति के लिए आयु और छोटे-बड़े का कोई बन्धन नहीं। उसके लिए शिष्य की योग्यता और उसकी प्यास देखी जाती है। यदि आप मुझे अधिकारी समझते हैं तो ठीक। नहीं तो मैंने संकल्प कर लिया है कि मैं यहां से तभी हिलूंगा जब आप मुझे आत्म-विद्या की दीक्षा के लिए अपने चरणों में स्वीकार कर लेंगे वरना मैं भूखा-प्यासा रहकर यहीं अपने प्राणों का अन्त कर दूंगा। ज्ञान के महान् सागर के पास आकर मैं प्यासा नहीं लौटना चाहता। आप यदि मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे आत्म-विद्या की ही दीक्षा दें जिसके लिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि बरसों तक जंगलों में भटकते रहे।"

नचिकेता में जैसा दृढ़ संकल्प आचार्य ने देखा वैसा आज तक उन्होंने किसी में न देखा था। अन्य विद्याओं के उन्हें अनेक शिष्य मिले, किन्तु आत्म-विद्या का सच्चा अधिकारी अब तक उन्हें कोई न मिला था। बड़े-बड़े विद्वान् और ऋषि-मुनि भी उनके पास आए, लेकिन उनमें भी ऐसी दृढ़ता और ऐसा पवित्र संकल्प उन्हें दिखाई न दिया जैसा बारह वर्ष के बालक नचिकेता में उन्हें देखने को मिला। उससे बढ़कर आत्म-विद्या का अधिकारी भला कौन हो सकता है? जीवन में पहली बार उनकी आंखें कृपा और प्रेम के आंसुओं से डबडबा आईं और उन्होंने नचिकेता को अपने गले से लगा लिया।

यमाचार्य ने नचिकेता को आत्म-विद्या की न केवल दीक्षा दी अपितु उसे पूरा आत्मज्ञानी भी बना दिया। वही नचिकेता जिसे एक दिन पिता ने क्रोध से फटकार दिया था, वह अपनी दृढ़ता और संकल्प-शक्ति के बल पर एक दिन संसार के सबसे बड़े आत्मज्ञानी गुरु का सबसे योग्य आत्मज्ञानी शिष्य बनकर लौटा।

नचिकेता की यह कहानी उपनिषदों में अंकित है जो आत्म-ज्ञान का अमरकोश मानी जाती है।



सच्चा साधक : अर्जुन

गुरु द्रोणाचार्य ने कौरव और पांडव बालकों को कई दिनों तक तीर का निशाना लगाना सिखाया। फिर कुछ दिन उन्हें अभ्यास करने के लिए दिए।

उस दिन सब शिष्यों की परीक्षा थी। आचार्य ने सबको अपना-अपना धनुष-बाण तैयार करके क्रम से खड़े होने का आदेश दिया। उनके लक्ष्य-वेध की परीक्षा होनी थी। इसके लिए आचार्य ने लोहे की एक छोटी-सी मछली पहले से ही बनवाकर रखी हुई थी। उसे उन्होंने एक पेड़ की डाली पर सही तरह टंगवा दिया कि उसकी आंख नीचे से साफ-साफ दिखाई

देती रहे। अब उन्होंने शिष्यों को आदेश दिया—"इस मछली की आंख का निशाना लगाओ!"

आज्ञा मिलने की देर थी कि उतावले शिष्यों ने बारी-बारी उठकर निशाना लगाना आरम्भ कर दिया। दुर्योधन कौरवों में सबसे बड़ा था और सबसे उतावला भी। वह अकड़कर सबसे पहले उठा। उसने धनुष पर बाण चढ़ाया और पूरा जोर लगाकर मछली की ओर तीर चलाया। लेकिन निशाना गलत लगा। लक्ष्य चूक गया।

भीम की दुर्योधन से हमेशा टक्कर रहती थी। दुर्योधन की भूल पर वह ठहाका मारकर जोर से हंसा और बोला—"निशाना लगाना नहीं आता तो सबसे पहले क्यों उठ खड़े हुए थे? सबका श्रीगणेश ही गलत कर दिया तुमने! देखो, मैं कैसा निशाना लगाता हूं!" यह कहते हुए भीम ने जो तीर चलाया तो वह मछली की आंख तो दूर रही, उसकी दुम को भी न छू सका और दूर से ही पार निकल गया।

अब भला दुर्योधन क्यों चूकने लगा? वह भीम को चिढ़ाते हुए बोला—"बड़ा आया था तीस मारखां बनने! तुझे तो यह भी पता नहीं कि मछली की आंख मुंह पर होती है या दुम पर? जा, पहले निशाना लगाना सीखकर आ, फिर मुझसे मुकाबला करने आना।"

इसके बाद दुःशासन उठा तो उसका भी निशाना गलत। नकुल उठा तो उसका उससे भी अधिक गलत। यह देखकर द्रोणाचार्य ने परीक्षा का ढंग बदल दिया। जो भी शिष्य निशाना लगाने के लिए उठता, वे पहले उससे पूछते—"तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है?"

अब युधिष्ठिर की बारी थी सो वह बोला—"आचार्य जी, मुझे अपने सामने एक पेड़ दिखाई दे रहा है और उसकी डाल

पर एक लटकती हुई मछली भी दिखाई दे रही है।"

आचार्य ने कहा—"तुम निशाना नहीं लगा सकोगे। इसलिए बैठ जाओ।"

कर्ण बहुत उतावला हो रहा था। वह उछलकर आगे आया और उसने बड़े विश्वास के साथ पूछा—"गुरुजी, मैं निशाना लगाऊं?"

आचार्य ने कहा—"पहले मुझे यह बताओ कि तुम्हें अपने सामने क्या-क्या दिखाई दे रहा है?"

कर्ण बड़ी शान से बोला—"गुरुजी, मुझे अपने सामने खड़े हुए आप भी दिखाई दे रहे हैं, सौ कौरव भाई भी, पांच पाण्डव भाई भी, यह पेड़ भी और उस पर मछली भी और मछली के पीछे नीला आकाश भी दिखाई दे रहा है।"

कर्ण को विश्वास था कि एक साथ इतनी चीजें दिखाई देने पर उसे शाबाशी मिलेगी, किन्तु आचार्य ने हंसते हुए कहा—"वाह, क्या कहने तुम्हारी नजर के! क्या ही अच्छा होता तुम्हें दिन को तारे भी दिखाई दे जाते!"

इसके बाद बारी-बारी हर एक शिष्य उठा। आचार्य ने प्रत्येक से वही एक प्रश्न किया—"तुम्हें अपने सामने क्या दिखाई दे रहा है?" प्रत्येक शिष्य ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार तरह-तरह के उत्तर दिए।

किसी ने कहा—"मुझे पेड़ के हजारों पत्ते भी दिखाई दे रहे हैं।"

किसी ने कहा—"मुझे पेड़ के फल, उसकी डालियां, मछली की दुम, उसका पेट, उसका सिर—सब कुछ दिखाई दे रहा है।"

इस तरह जितने मुंह उतनी बातें आचार्य ने सुनीं और उन सबको उन्होंने निशाना लगाने के अयोग्य घोषित कर दिया। सब बड़ी शान से आते लेकिन मुंह लटकाए चले जाते।

अन्त में अर्जुन की वारी आई। आचार्य ने उससे भी वही प्रश्न पूछा—"तुम्हें अपने सामने क्या-क्या दिखाई दे रहा है?" अर्जुन ने अपने धनुष पर तीर चढ़ाते हुए कहा—"आचार्य जी, मुझे केवल दो चीजें दिखाई दे रही हैं—अपने तीर की नोक और मछली की आंख।"

यह सुनकर गुरु द्रोणाचार्य खुशी से उछल पड़े, मानो बहुत देर से खोई हुई मूल्यवान वस्तु उन्हें फिर मिल गई हो। सौ कौरवों और चार पाण्डवों के उत्तर सुन-सुनकर वे निराश हो चले थे; किन्तु अर्जुन का उत्तर सुनकर उनकी सारी निराशा और उदासी जाती रही और उनके मुंह से निकला—"अर्जुन, तुम निशाना अवश्य लगा लोगे! चलाओ अपना तीर!"

आज्ञा पाते ही अर्जुन ने तीर चला दिया और वह ठीक निशाने पर लगा—ठीक मछली की आंख में। निशाना अर्जुन का लगा पर खुशी से उछल पड़े गुरु द्रोणाचार्य। वे अर्जुन की पीठ थपथपाते हुए बोले—"शाबाश अर्जुन, तुम धनुर्विद्या में पारंगत बनोगे।"

फिर दूसरे शिष्यों की तरफ देखते हुए वे बोले—"शिष्यो! निशाना लगाना इसको कहते हैं। मनुष्य के सामने दो ही चीजें होनी चाहिएं—एक लक्ष्य और दूसरा साधन। जिसका ध्यान इन दो वस्तुओं पर केन्द्रित रहता है, वही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत जिसका ध्यान हजारों चीजों की तरफ बिखरा रहता है, वह अपने लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। सच्चा साधक वह है जिसकी नजर केवल अपने ऊंचे लक्ष्य पर जमी रहती है। इधर-उधर की बेकार चीजों पर उसका ध्यान तक नहीं जाता।"



सच्चा सौदा : नानक का

कालू पटवारी का बेटा दस-बारह वर्ष का हुआ, तो पिता को उससे नई-नई आशाएं होने लगीं। अब पटवारी जी की गांव में एक दुकान थी जिसे वे अकेले चलाते थे। लाभ भी थोड़ा ही होता था। अब बेटा बड़ा हुआ तो उन्होंने सोचा—एक और एक ग्यारह होते है। अब बेटा भी दुकान पर बैठेगा और दुगुनी कमाई होगी।

यह सोचकर उन्होंने एक दिन बेटे को बुलाकर प्यार से कहा—"बेटा नानक, दुकान पर तुम भी थोड़ा-बहुत वक्त दे दिया करो और छकु सौदा बेच दिया करो!"

"क्यों नहीं पिताजी ! मैं आज ही आपके साथ दुकान पर चलूंगा।" बालक नानक ने कहा।

जब पटवारी जी तैयार होकर दुकान पर गए तो नानक उनके साथ था।

पटवारी जी की कपड़े की दुकान थी। उन्होंने कुछ रुपये बेटे को देकर कहा—"मैं दुकान पर सौदा बेचता हूं। तुम ये रुपये ले जाओ। पास के गांव में एक मेला लगने वाला है, वहां जाकर इन रुपयों से कोई कमाई कर लाओ।- लेकिन ध्यान रहे, सौदा अच्छा करना और लाभ भी अच्छा कमाना।"

पिता की बात गांठ बांधकर और रुपये जेब में रखकर नानक दूसरे गांव की ओर चल पड़ा। चलते-चलते वह सोचता रहा कि कौन-सा सौदा खरीदूं, जिससे बहुत ही लाभ हो ? किन्तु उसे कुछ सूझ ही न रहा था। तभी सहसा उसकी नजर सामने से आते हुए कुछ साधुओं पर पड़ी। साधु लोग भी नानक को देखकर उसके पास खड़े हो गए और बोले—"बेटा, हम लोग कल से भूखे हैं। अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। ऊपर से यात्रा की थकावट इतनी अधिक है कि अब चला तक नहीं जाता। यदि कुछ भिक्षा दे दो तो हम भोजन कर लें।"

नानक ने सोचा—अरे, मैं सौदे के बारे में सोच रहा हूं। भला इससे अच्छा रुपयों का सौदा और क्या हो सकता है कि भूखे साधु-सन्तों को भोजन खिला दिया जाए। इनके पास वस्त्र भी नहीं हैं। यदि इन्हें कपड़े भी ले दिए जाएं तो मुझे कितना पुण्य-लाभ होगा ?

यह सोचकर बालक नानक ने अपनी जेब के सारे रुपये उन साधुओं को भेंट कर दिए और मन में खुश होता हुआ दुकान पर लौट आया मानो उसने बहुत बड़ा काम कर लिया हो।

पिता ने बेटे को इस प्रकार हंसते-मुस्कराते हुए लौटते देखा

तो उनकी भी खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने अनुमान लगाया कि बेटा जरूर अच्छा लाभ कमाकर लाया होगा।

इसी आशा से पटवारी जी ने पूछा—"कहो नानक, उन रुपयों का तुमने क्या सौदा किया ?"

नानक ने अपनी सफलता पर प्रसन्न होते हुए कहा—"पिता जी, मैंने सच्चा सौदा किया और बड़ा पुण्य-लाभ कमाया है। भला उन रुपयों का इससे अच्छा और सौदा क्या हो सकता है कि मैंने साधु-सन्तों को भोजन खिला दिया और पहनने के लिए उन्हें वस्त्र दे दिए। कहिये, मैंने अच्छा किया न ?"

"तूने मेरे रुपये डुबो दिए। तेरे जैसा नालायक बेटा दो दिन और दुकान पर बैठे तो मेरा दिवाला ही निकालकर छोड़े।" पिता ने खीझते हुए कहा और अपना सिर पटक लिया।

सच्चा नकलची : शिब्बू

सांझ हुई। आकाश में तारों की दीवाली सजी और धरती पर सुभाष के घर में भी दीपक अपना छोटा-सा प्रकाश लिए उसकी आंखों के सामने टिमटिमाने लगा। नन्हा सुभाष भोजन कर चुका था और कहानी सुनने के लिए अपनी माता के पास आ बैठा था। उसकी माता प्रायः हर राज उसे कोई-न-कोई सुन्दर कहानी अवश्य सुनाती थी।

आज भी सुभाष ने हर रोज की तरह आग्रह किया—"मां, कोई कहानी सुनाओ न!"

"कौन-सी कहानी सुनाऊं शिब्बू तुम्हें?" मां ने पूछा। उसका प्यार का नाम घर में शिब्बू ही था।

शिब्बू ने सरल भाव से कहा—"कोई अच्छी-सी कहानी सुनाओ मां!"

"अच्छा, तुम्हें शिवजी की कहानी सुनाती हूं।" मां ने कहा। "सुनो ध्यान से। सुनते-सुनते सो मत जाना—

एक थे शिवजी महाराज। वे बहुत बड़े देवता और तपस्वी थे। उन्हें भगवान् का भजन करना और तपस्या करने का बड़ा शौक था।"

शिब्बू ने पूछा—"तपस्या क्या होती है मां? शिवजी कैसे और कहां तपस्या करते थे?"

मां ने कहा—"शिवजी पहाड़ों पर रहते थे। वे तुम्हारी तरह न तो अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते थे और न मिठाइयां और पकवान खाते थे। बस, वे कमर में केवल एक मृगछाला पहनते थे, बाकी उनका सारा शरीर नंगा रहता था। चाहे सर्दी हो, चाहे गर्मी, चाहे बसन्त हो, चाहे बरसात—शिवजी के लिए सब मौसम एक बराबर थे। हर ऋतु में वे नंग-धड़ंग रहते थे और अपने अंगों पर केवल भभूत रमाते थे।

शिब्बू ने पूछा—"भभूत क्या होती है मां ?"

मां ने कहा—"लकड़ियां जलाने से जो राख बन जाती है न, बस उसी को भभूत कहते हैं। जब वह चूल्हे की राख न होकर साधुओं की धूनी या उनके हवन की राख होती है। यह राख बहुत पवित्र मानी जाती है। इसी की भभूत बनाकर शिवजी अपने अंगों पर मलते और उसे मलकर हिमालय की चोटियों पर रहते थे। तुम जानते हो कि हिमालय पर्वत दुनिया का सबसे ऊंचा पर्वत है और वहां बहुत बर्फ पड़ती है। बर्फ के कारण वहां इतनी सर्दी पड़ती है कि हमारे-तुम्हारे जैसे आदमी का तो वहां शरीर ही अकड़ जाए।"

शिब्बू ने आश्चर्य से पूछा—"फिर शिवजी वहां कैसे रहते थे ? क्या उन्हें सर्दी नहीं लगती थी ? फिर वे तो नंग-धड़ंग रहते थे। इतनी सर्दी वह कैसे सह लेते थे ?"

मां ने उसे बताया—"यही तो तपस्वियों का कमाल है। तपस्या के कारण उनका शरीर इतना सख्त हो जाता है कि न उन्हें सर्दी सताती है और न गर्मी। ओले-बरसात की तो वे परवाह ही नहीं करते। आंधी और तूफान में भी वे मजे से ऐसे बैठे रहते हैं जैसे हम-तुम यहां पंखे की हवा में आनन्द से बैठे हैं।"

शिब्बू ने कहा—"तब तो तपस्या बहुत अच्छी चीज है !"

"हां, तपस्या बहुत ही अच्छी चीज है। इससे शरीर कठोर

होता है और मन पवित्र होता है। इसीलिए तो शिवजी तपस्या करते थे।"

शिब्बू ने पूछा—"तपस्या से शिवजी को क्या मिला ?"

मां ने कहा—"उन्हें ईश्वर के दर्शन हुए और शायद तुम्हें पता नहीं कि ईश्वर के दर्शन करने से कितना आनन्द आता है! जितना इस दुनिया में बड़े-से-बड़े राजा के महलों में भी नहीं मिल सकता।"

इतना कहकर मां ने शिवजी की कहानी खत्म कर दी और धीरे-धीरे घर के सब लोग अपने-अपने बिस्तर पर सोने के लिए चले गए। फिर धीरे-धीरे सब सर्दियों की मीठी नींद का आनन्द लेने लगे।

लेकिन शिब्बू की आंखों में नींद कहां? उसकी बड़ी-बड़ी, काली-काली खुली आंखों के सामने घर की छत और कमरे की ऊंची दीवार थी, किन्तु उसे ये दोनों दिखाई नहीं दे रहे थे। उसकी आंखों के सामने हिमालय पर्वत का दृश्य था। उस पर चांदी-सी चमचमाती बर्फ जमी थी और बर्फ के आसन पर समाधि लगाए दिखाई दे रहे थे उसे शिवजी महाराज। उनकी कमर में मृगछाला थी। सारा शरीर नंगा था, जिस पर उन्होंने भभूत रमाई हुई थी।

शिब्बू अपने ध्यान में ही ये सब चीजें देख रहा था और सोच रहा था—जब शिवजी हिमालय की बर्फानी चोटियों पर नंग-धड़ंग रहकर तपस्या कर सकते हैं, तो क्या मैं यहां बंगाल की सर्दी में नंगा रहकर समाधि नहीं लगा सकता?

उसने कमरे में चारों ओर देखा—मां भी सो गई हैं, बापू भी सो गए हैं, घर का कोई भी जीव जाग नहीं रहा।

सर्दियों की रात थी। शिब्बू धीरे-धीरे अपने गर्म बिस्तर से निकला। उसने रजाई उतारी। फिर पहने हुए गर्म कपड़े उतारे,

धोती-कमीज भी उतार दिए। मृगछाला उसके पास कहीं नहीं थी। उसके बदले उसने एक अंगोछा ही अपनी कमर में लपेट लिया और मन में सोचा—शिवजी ऐसे ही नंग-धड़ंग रहते हैं।

फिर उसे याद आया—अरे, वे तो भभूत भी रमाते थे। शिब्बू ने भी चूल्हे में से राख लेकर अपने सारे अंगों पर मल ली और आंगन की खुली हवा में समाधि लगाकर लगभग उसी तरह बैठ गया जैसे शिवजी बैठा करते थे। इस प्रकार न जाने वह कितनी देर तक बैठा रहा और कितनी देर तक तपस्या करता रहा, लेकिन घर वालों को तब पता चला जब शिब्बू की मां की आंख खुली और उसने देखा कि शिब्बू बिस्तर पर नहीं है। उसने खाट के दाएं-बाएं, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे देखा कि शायद सपने में वह खाट से नीचे न गिर गया हो, लेकिन उसे वहां शिब्बू दिखाई न दिया। उसने कमरे में ढूंढा। किसी भी कोने में शिब्बू न मिला। घबराकर उसने अपने पति को जगाया। दोनों ज्योंही कमरे से बाहर निकले तो क्या देखते हैं कि शिब्बू जी महाराज सामने आंगन में ठंडे नंगे फर्श पर आसन लगाए तपस्या कर रहे हैं। मां को याद आया—ओ हो, शिब्बू ने रात को शिवजी महाराज की कहानी सुनी थी न, सो उन्हीं की नकल वह स्वयं भी कर रहा है। उसकी इस बात पर दोनों को हंसी भी आई और अपने बेटे की सहन-शक्ति पर आश्चर्य भी। उनका लाड़ला कहीं सर्दी न खा जाए, इस भय से उन्होंने बेटे को प्यार से समझाया, ठंडे फर्श से उसे उठाया, उसके बर्फ जैसे ठंडे हाथ-पैरों को झाड़कर गर्म किया, गर्म कपड़े पहनाये और फिर प्यार से थपकियां दे-देकर उसे गर्म बिस्तर में सुला दिया।

शिब्बू ने धीरे-धीरे आंखें बन्द कर लीं और मां ने देखा कि वह सो गया है। इसलिए वह भी सो गई और शिब्बू के बापू भी निश्चिंत होकर सो गए।

सुबह ४ बजे मां-बाप को जागने की आदत थी। वे जागे तो देखा कि शिब्बू का बिस्तर भी खाली पड़ा है। वह फिर वहां पर मौजूद नहीं है। वह फिर बाहर नंगे फर्श पर नंग-धड़ंग समाधि लगाए बैठा दिखाई दिया। शिब्बू के रूप में उन्हें शिवजी की शक्ल दिखाई दी। अन्तर केवल इतना था कि शिवजी हिमालय पर रहते थे और शिब्बू अपने आंगन में बैठा था। दोनों के लक्ष्य बहुत ऊंचे थे—शिवजी अपने भगवान् के दर्शनों के लिए तरसते थे और शिब्बू तरस रहा था शिवजी बनने के लिए। मां ने शिब्बू के पिता को धीरे से कहा—तुम्हारा बेटा बड़ा होकर एक भक्त बनेगा और तपस्वी कहलायेगा।

सचमुच वही शिब्बू बड़ा होकर सुभाषचन्द्र बोस बना। उसने ईश्वर-भक्ति का आनन्द देश-भक्ति में पाया और वह ऐसा देश-भक्त बना जिसने अपने देश को आजाद करवाने के लिए अपना सारा जीवन ही अर्पण कर दिया।



सच्चा परीक्षार्थी : मोहनदास गांधी

उस दिन गुजरात काठियावाड़ के शिक्षा निरीक्षक अचानक ही उस स्कूल में जा पहुंचे। वे पहले किसी को बताए बिना इसलिए आए थे कि देखें कि आम दिनों में विद्यालय में काम कैसे चलता है ?

उन्हें देखते ही स्कूल में भगदड़ मच गई। चपरासी ने सबको सूचना दे दी—निरीक्षक महोदय आए हैं। सावधान हो जाओ।

सब सावधान हो गए। लड़के अपनी-अपनी श्रेणी में चले गए और अध्यापकों ने पढ़ाना आरम्भ कर दिया।

निरीक्षक बाहर से आते हुए सीधे एक श्रेणी में घुस गए। यहां अध्यापक लड़कों को गणित पढ़ा रहे थे। शायद गुणा का

तरीका समझा रहे थे और उन्होंने एक सवाल बोर्ड पर भी लिखा हुआ था।

निरीक्षक ने अध्यापक जी से पूछा—"आपके लड़के गणित में कैसे हैं?"

अध्यापक जी ने कहा—"आप स्वयं देख लीजिए। मैंने तो अपनी तरफ से इन्हें बहुत अच्छा पढ़ाया है।"

निरीक्षक ने पूछा—"शायद आप इन्हें गुणा करने का तरीका आजकल समझा रहे हैं। क्या मैं भी इन्हें एक प्रश्न लिखवा सकता हूं?"

"बड़ी खुशी से!" अध्यापक जी ने नम्रतापूर्वक किन्तु बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा, मानो उन्हें लड़कों की योग्यता पर पूरा विश्वास हो कि वह सब सवाल ठीक निकालेंगे।

निरीक्षक ने बोर्ड पर एक सवाल लिख दिया और लड़कों को कहा—"यह सवाल निकालो!"

लड़कों की पंक्ति में एक के पीछे एक सवाल लिख दिया गया और लड़के सवाल निकालने लग गए। निरीक्षक बोर्ड के पास कुर्सी पर बैठ गए और कमरे में लगे चार्टों तथा चित्रों को ध्यान से देखने लगे। अध्यापक जी ने निरीक्षक का ध्यान दूसरी तरफ लगा देखकर बैठे हुए लड़कों की पंक्तियों में घूम-घूमकर चक्कर लगाना शुरू कर दिया। वे एक-एक लड़के के पास जा-जाकर देख रहे थे कि वह सवाल कैसे निकाल रहा है? यह देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई कि अधिकतर लड़कों का उत्तर और सवाल निकालने का ढंग दोनों ठीक हैं।

सहसा उनकी नजर मोहनदास नामक एक लड़के की कापी पर पड़ी। उसका उत्तर भी गलत था और तरीका भी गलत। अध्यापक जी ने देखा कि अब भी निरीक्षक महोदय की नजर दीवार पर लगी है और मोहन की तरफ है उनकी पीठ। नकल

करने के लिए सुनहरी मौका है। अध्यापक जी ने इशारे से मोहन को समझाया—"तुम्हारा सवाल गलत है। अपने सामने बैठे हुए लड़के की नकल कर लो।"

मोहन ने संकेत समझ लिया और अध्यापक जी आगे की ओर सरक गए। दूसरे लड़कों की ओर देखते हुए जब वे थोड़ी देर बाद फिर मोहन के पास पहुंचे तो उन्होंने देखा कि उसने अभी तक अपना सवाल ठीक नहीं किया। इसलिए उन्होंने दुबारा संकेत किया—"मोहन, अपने आगे बैठे लड़के की नकल क्यों नही कर लेते ?"

मोहन ने धीरे से कहा—"मैं नकल नहीं करूंगा।"

"क्यों ?" अध्यापक जी ने कहा—"निरीक्षक महोदय दूसरी तरफ देख रहे हैं। इसलिए निडर होकर नकल कर लो। तुम्हारे सामने मैं खड़ा हो जाता हूं।"

"अध्यापक जी, क्षमा करें ! मैं इस अवसर का लाभ नहीं उठाना चाहता !" मोहन ने नम्रता से निवेदन किया।

"लेकिन तुम्हारा सवाल तो गलत है। इसलिए तुम्हारे नम्बर कट जाएंगे।" अध्यापक ने उसके कान में कहा।

"नम्बर कटवाना मुझे स्वीकार है लेकिन नकल करना नहीं, क्योंकि नकल का मतलब चोरी होता है। आप ही ने तो हमें उपदेश दिया था कि चोरी नहीं करनी चाहिए। फिर आप ही आज मुझे नकल करने के लिए क्यों कह रहे हैं ?" मोहन ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा।

छोटे से उस बालक के इस प्रश्न का जवाब अध्यापक जी के पास नहीं था। वे आश्चर्य से एकटक उसकी ओर देखते ही रह गए। शायद वे मोहन के उस छोटे से शरीर में छिपे हुए बड़प्पन को नहीं पहचान सके। इसलिए मन ही मन में उसे मूर्ख और पागल समझते हुए वे एक बार उसकी तरफ क्रोध से घूर-

कर दूसरी तरफ चले गए।

उन अध्यापक जी के लिए यह एक साधारण घटना थी जिसे वे कुछ दिन बाद बिल्कुल भूल गए, लेकिन मोहन के हृदय में सत्य के लिए जो प्रेम का अंकुर उत्पन्न हुआ था वह उसकी अवस्था के साथ-साथ बढ़ते-बढ़ते एक महान् गुण बन गया। वही मोहन बड़ा होकर मोहनदास कर्मचन्द गांधी के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो सत्य और अहिंसा का सबसे बड़ा पुजारी बना। आज भी उसका सत्य-प्रेम लोगों के लिए एक आदर्श बना हुआ है।

सच्चा सपूत : शंकर

सन् १७८८ के लगभग केरल के काताड़ी गांव में एक नम्बूदरीपाद ब्राह्मण रहते थे। उनके इकलौते पुत्र का नाम शंकर था। दुर्भाग्यवश शंकर के पिता का शीघ्र ही देहान्त हो गया और बालक शंकर अपनी माता की छत्रछाया में बड़ा होता गया। बुद्धि उसकी बहुत तेज थी और स्मरण-शक्ति ऐसी विलक्षण कि बड़े-बड़े शंकर को देखकर दंग रह जाते।

व्याकरण पढ़ने में लोगों को २५-२५ वर्ष लग जाते। छः वर्ष की आयु में ही शंकर व्याकरण का प्रकांड पंडित बन गया। सातवें वर्ष में वह दर्शनों का बेजोड़ विद्वान् कहलाने लगा। ज्योतिष और अन्य शास्त्र उसकी वाणी पर निवास करने लगे। जब वह भाषण देने के लिए खड़ा होता तो बड़े-बड़े पंडितों के छक्के छूट जाते। जब वह कोई प्रश्न करता तो स्वयं उसके गुरु असमंजस में पड़ जाते कि उसका उत्तर दें तो क्या दें? ऐसा प्रतिभाशाली था बालक शंकर। उसकी विद्वत्ता की धूम चारों ओर ऐसे फैल गई जैसे बसत में फूलों की खुशबू। उसकी प्रशंसा सुनकर स्वयं केरल के सम्राट ऐसे अद्भुत प्रतिभाशाली बालक को देखने के लिए उसके घर पर पधारे। जाते समय उन्होंने शंकर को निमन्त्रण दिया—"शंकर, मैं चाहता हूं कि तुम मेरी राजसभा को सुशोभित करो! यदि मेरा अनुरोध तुम्हें स्वीकार हो तो मेरे साथ ही राजधानी में चलो।"

कोई दूसरा बालक होता तो राजा की कृपा पाकर खुशी से फूला न समाता और राजसभा में स्थान पाकर अपने जीवन की सफलता समझ लेता। किन्तु शंकर इतने छोटे दिल का बालक न था। सोने-चांदी की चकाचौंध भी उसका दिल ललचा न सकी। शंकर ने राजा के अनुरोध को बड़ी नम्रता से अस्वीकार करते हुए कहा—"यह मेरी ब्रह्मचर्य पालन की अवस्था है। इस समय विद्या ग्रहण करना ही मेरा एकमात्र लक्ष्य है। इसलिए मैं यहीं रहकर विद्याध्ययन करना चाहता हूं। बजाय मुझे राज-सम्मान देने के आप मुझे आशीर्वाद दें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।"

बालक शंकर के इस उत्तर से राजा इतना प्रभावित हुआ कि उसने आठ-दस वर्ष के उस बालक के चरण पकड़ लिए और उसे अपना गुरु स्वीकार कर लिया। वहां से चलते समय राजा ने अपने नन्हे गुरु के निर्वाह के लिए बहुत-सा धन भेंट करना चाहा।

शंकर ने रुपये-पैसों के ढेर की ओर देखते हुए मुस्कराकर पूछा—"इस धन की रक्षा कौन करेगा ?"

"क्यों, क्या आपको इसके चोरी हो जाने का भय है ?" राजा ने पूछा।

"अवश्य ! जहां रुपये-पैसों का ढेर होगा, वहां उसके चोरी हो जाने का भय तो दिन-रात लगा रहेगा ही। इसलिए मैं ऐसी वस्तु को लेकर क्या करूं जो मेरा दिन का चैन और रात की नींद दोनों को हराम कर दे ? मुझे तो ऐसा धन चाहिए जो मुझे भय-मुक्त कर सके !" शंकर ने राजा को उत्तर दिया।

"ऐसा कौन-सा धन है ?"—राजा ने पूछा।

"ऐसा धन त्याग है ! जो मनुष्य संसार की सब धन-संपत्ति को त्यागकर तपस्वी बन जाता है, उसे किसी ओर से कभी कोई

भय नहीं रहता।" शंकर ने राजा को समझाया।

राजा आश्चर्य से शंकर की ओर देखता रह गया कि इस छोटे से शरीर में कितनी महान आत्मा निवास कर रही है? उसने अपने नन्हे को प्रणाम किया और उसकी चरण-धूलि अपने मस्तक पर लगाकर अपनी राजधानी को लौट गया।

इधर शंकर की माता चाहती थी कि उसका बेटा एक बहुत बड़ा विद्वान तो बने ही, साथ ही उसका किसी अच्छे घराने की कन्या से विवाह भी हो जाए जिससे उनके कुल का नाम आगे चल सके। जब-जब शंकर की माता विवाह की बात उठाती, शंकर कहता—"मां, विवाह में क्या रखा है? विवाह तो एक बंधन है।"

"लेकिन वह प्यार का बंधन है, बेटा!" मां तरसते हुए हृदय से कहती।

"पिंजरा चाहे सोने का हो, चाहे लोहे का, आखिर वह है तो पिंजरा ही। मां, यह सवाल तुम जंगल के किसी आजाद पंछी से जाकर पूछो कि उसे सोने का पिंजरा पसंद है या लोहे का?" शंकर मां से प्रश्न कर देता।

मां भोलेपन में कह देती—"बेटा, पंछी तो चाहेगा कि मैं आजादी से जंगल मे उड़ता फिरूं।"

तब शंकर नहले पर दहला लगाते हुए कहता—"जब जंगल का एक छोटा-सा पंछी भी बंधन में पड़ने को तैयार नहीं, फिर भला नम्बूदरीपाद ब्राह्मण का बेटा होकर भी मैं जान-बूझकर बंधन में क्यों फंसूं? यदि मैं मनुष्य हूं और मैं पढ़ा-लिखा भी हूं, तब मुझे तो पंछी से भी अधिक स्वतन्त्रता चाहिए। मैं जहां चाहूं, जिधर चाहूं घूमूं! जब चाहूं मुट्ठी-भर चबेना चबा-कर पानी पी लूं और जब फिर जी चाहे अपनी बांहों का तकिया बनाकर धरती पर ही लेट जाऊं!"

बेटे की ऐसी उखड़ी-उखड़ी बातें सुनकर माता की सब

आशाओं पर पानी फिर जाना और वह तनिक घबराकर पूछती—"शंकर, सच-मच बता, इन बातों से तेरा मतलब क्या है, तू क्या बनना चाहता है ?"

शंकर अपनी मां की भावनाओं को तनिक भी ठेस लगाए बिना प्यारभरे स्वर में कहता—"मैं संन्यासी बनना चाहता हूं मां ! मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दोगी मां ?"

भला विधवा मां अपने इकलौते पुत्र को उसकी भरी जवानी में साधु बनने की आज्ञा कैसे दे सकती है ? जब बेटे के बिछुड़ने का दृश्य उसकी आंखों के सामने आता,तो उसकी धंसी हुई आंखों में बड़े-बड़े मोतियों जैसे आंसू छलछला आते और वह रुआंसे स्वर में कहती—"तो क्या तू सचमुच मुझे छोड़कर चला जाएगा ?"

'मां, तुम्हें तो जीवन-भर नहीं छोड़ सकता, किन्तु घर को छोड़ने की अवश्य मेरी इच्छा है। वह भी तुम्हारी आज्ञा के बिना नहीं मां। जब तक तुम अपने मुंह से 'हां' न कह दोगी तब तक तुम्हारा शंकर घर छोड़कर कभी न जाएगा।" शंकर बड़े प्यार से अपनी मां को आश्वासन देते हुए कह देता था।

इस प्रकार प्राय: हर रोज मां-बेटे में ऐसी ही बातें होतीं। न मां 'हां' कहती और न शंकर घर से जाने का नाम लेता। इस प्रकार दिन के बाद दिन और वर्षों के बाद वर्ष बीतते गए। किन्तु शंकर के जीवन में वह दिन नहीं आ पाया जब उसकी मां अपनी खुशी से कह दे—"जा बेटा, तू संन्यासी बन जा।"

एक दिन दैव का ऐसा संयोग हुआ कि शंकर नदी में नहा रहा था और उसकी मां किनारे पर बैठी उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। संयोगवश शंकर तैरते-तैरते गहरे पानी में चला गया और एक जगह थोड़ी देर के लिए रुक-सा गया। मां ने समझा कि वह मल-मलकर नहा रहा है और नहाने का आनन्द

ले रहा है। लेकिन उसे क्या पता था कि एक मगरमच्छ ने उसके लाड़ले बेटे का पांव पकड़ रखा था। उसकी पकड़ से अब शंकर छूटे तो कैसे, और यह बात अपनी मां को बताए कैसे? वह सुनते ही घबरा जाएगी। यह सोचकर कुछ देर तक शंकर मगरमच्छ से छूटने का प्रयत्न करता रहा, लेकिन कहां वह जल का भयंकर जीव मगरमच्छ और कहां शंकर की कोमल पतली टांगें? भला मुंह में आए ऐसे बढ़िया शिकार को मगरमच्छ इतनी आसानी से कैसे छोड़ दे? शंकर जितना ही छूटने के लिए अपने हाथ-पांव पटकता, मगरमच्छ उतनी ही मजबूती से उसकी टांग को अपने मुंह में पकड़ लेता। इस खींचातानी से शंकर थककर चूर हो गया। जब उसे विश्वास हो गया कि अब मगरमच्छ के सामने उसकी कोई दाल नहीं गल सकती तथा कुछ ही क्षणों में वह उसके मुंह का ग्रास बन जाएगा, तब अपनी मां को असली बात बताए बिना उससे न रहा गया।

शंकर ने जोर से पुकारा—"मां, मुझे मगरमच्छ ने पकड़ लिया है।"

मां ने बेटे की पुकार सुनी तो उसकी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। बूढ़ी मां इससे बढ़कर और कर भी क्या सकती थी कि अपने बेटे को मुसीबत में पड़े देखकर रोती, घबराती और बहुत होता तो चिल्लाती? लेकिन उस उजाड़ नदी तट पर उसकी पुकार कौन सुनता? उस समय मां-बेटे के सिवाय वहां कोई और मनुष्य दिखाई भी तो नहीं देता था। बेबस बुढ़िया 'हाय' कहकर रोने-चिल्लाने लगी।

शंकर ने उसे दूर से पुकारा—"मां, यह रोने-चिल्लाने का समय नहीं है! मुझे बचाने के लिए कुछ कर सकती हो तो करो।"

मां ने अपने दोनों हाथ बेटे की ओर बढाते हुए कहा—"तुम्हारे प्राण बचाने के लिए मैं अपना जीवन तक दे सकती हूं।

अगर मगरमच्छ तुम्हारे बदले मुझे खा ले तो इससे बढ़कर खुशी की बात और क्या होगी ?"

शंकर ने दूसरी बार पुकारकर कहा—"मां, अब जीवन और मृत्यु में थोड़ा ही अन्तर रह गया है। झटपट जो कुछ करना हो कर डालो! नहीं तो मैं तो चला!"

मां ने चीखते स्वर में कहा—"इस मुसीबत में मैं किसे पुकारूं? मेरी मदद करने के लिए अब कौन आए? चारों ओर कोई दिखाई भी तो नहीं देता!"

शंकर ने तीसरी बार पुकारा—"मां, जिसका कोई सहारा नहीं होता, उसका सहारा भगवान् बनते हैं। जिसके बचने की दुनिया में सब आशाएं समाप्त हो जाती हैं, उसे भगवान् ही बचा सकते हैं। सुनते हैं कि कभी ऐसे ही एक ग्राह ने एक हाथी को पकड़ लिया था। उसके बचने की भी कोई आशा न रही थी। *जब वह अपने हाथ-पांव मार कर थक गया और उसे लगा कि* अब वह मरने ही वाला है, तब उसने अपनी सहायता के लिए भगवान् को पुकारा। कहते हैं, भगवान् ने उस हाथी के प्राणों की रक्षा करके उसे बचा लिया।"

प्यासे को जैसे सहसा शीतल जल की धारा के दर्शन हो जाएं, अंधे को जैसे अपनी आंखों में नई ज्योति प्राप्त हो जाए, वैसे ही निराशा के उन क्षणों में शंकर की बूढ़ी मां को आशा की एक किरण दिखाई दी। उसने आवेश में आकर कहा—"जब भगवान् एक हाथी को डूबने से बचा सकते हैं, तो क्या मेरे इकलौते बेटे को नहीं बचाएंगे, जो लाखों में एक है, मेरी आंखों *का तारा है और मेरे लिए बुढ़ापे की लाठी है!"*

फिर उसने आंखें बन्द करके, दोनों हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना की—"हे दयालु भगवान्, मेरे बेटे की रक्षा करो। मेरे शंकर को उस भयंकर मगरमच्छ से बचा लो!"

शंकर ने नदी में खड़े-खड़े कहा—"मां, ऐसे नहीं। भगवान् इस तरह तुम्हारी प्रार्थना नहीं सुनेंगे।"

मां ने व्याकुल होकर पूछा—"तो फिर कैसे सुनेंगे? जल्दी बताओ, मैं वैसे ही उनकी प्रार्थना करूंगी।"

तब तक शंकर ने मन ही मन में एक उपाय सोच लिया। वह जानता था कि मेरे मोह के कारण मेरी मां मुझे संन्यास लेने की आज्ञा कभी नहीं देगी। लेकिन अब तो मैं उसके लिए मर ही चुका हूं। यदि इस समय मैं उसे संन्यास की आज्ञा के लिए मनवा सकूं तो वह अवश्य मान जाएगी। फिर हो सकता है इस शुभ कार्य के लिए भगवान् मुझे नवजीवन प्रदान कर दें।

यह सोचकर शंकर ने मां से कहा—"मां, मेरा दिल कहता है कि यदि तू मुझे संन्यासी होने की आज्ञा दे दे, तो यह मगरमच्छ मेरा पैर छोड़ देगा, नहीं तो तुम्हारे लिए मैं तो मर ही गया हूं। मेरे लिए भी दुनिया का यह सारा खेल समाप्त हो ही चुका है। ऐसी हालत में बस एक भगवान् का ही सहारा है। तुम मुझे उसी के चरणों में अर्पित कर दो, मुझे संन्यास की आज्ञा दे दो।"

मां ने बेटे की प्राण-रक्षा के लिए एक कड़वा घूंट पीकर उसे संन्यास लेने की आज्ञा देते हुए कहा—"तू भले ही संन्यासी बन जा, लेकिन एक शर्त पर।"

शंकर ने उत्सुकता से पूछा—"वह क्या, मां?"

"शर्त यह है बेटा कि तू मेरा बिल्कुल त्याग नहीं करेगा। बीच-बीच में मुझसे मिलने आता रहेगा और मेरा अन्तिम संस्कार तू अपने हाथों से करेगा!"—मां ने एक ही सांस में तीनों बातें कह डालीं।

"मुझे तुम्हारी तीनों शर्तें मंजूर हैं। तुम मेरी मां हो, सदा मेरी मां रहोगी और मैं तुम्हारा पुत्र हूं, सदा अपना कर्तव्य

तुम्हारे लिए निभाता रहूंगा। तुम्हारे त्याग का प्रश्न ही नहीं उठता। चाहे मैं तुम्हारी आंखों से कितना ही दूर क्यों न चला जाऊं, पर मेरा मन सदा तुम्हारे चरणों में ही रहेगा। दूर बैठे-बैठे तुम मुझे शुभ आशीर्वाद देती रहना।" शंकर ने कहा।

चमत्कार हो गया, इधर माता द्वारा संन्यास की अनुमति देने की देर थी कि उधर मगरमच्छ ने शंकर का पांव छोड़ दिया। शंकर स्वयं तैरकर नदी के इस पार पहुंचा—दुनिया के लाखों लोगों को तराने के लिए। वही शंकर बड़ा होकर शंकराचार्य बना जो वेदान्त का सबसे बड़ा विद्वान् बना। उन दिनों बौद्ध, शैव और वैष्णव आदि मतों के नेताओं ने हिन्दुओं में बड़ी गड़बड़ मचा रखी थी। शंकराचार्य ने कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और द्वारिका से लेकर जगन्नाथपुरी तक भारत के चारों कोनों का भ्रमण किया। सब बड़े-बड़े विद्वानों को हरा कर दिग्विजय प्राप्त की। उन्हीं शंकराचार्य ने शृंगेरी, पुरी, बदरिकाश्रम एवं द्वारिका में भारत के सबसे बड़े चार मठों की स्थापना की, जो आज भी हिन्दू धर्म के सबसे बड़े केन्द्र माने जाते हैं।

सच्चे मां-बेटे

गुरु के आश्रम में नए ब्रह्मचारियों का नए वर्ष में नया प्रवेश हुआ। ब्रह्मचारी बारी-बारी अपनी-अपनी समिधाएं हाथों में लेकर आचार्य के सामने आते, उन्हें प्रणाम करके समिधाएं अर्पित करते और बदले में आचार्य बालकों का परिचय पूछकर उन्हें आशीर्वाद देते। इस प्रकार सब नए बालकों का गुरु-शिष्य परिचय समाप्त हो गया। केवल एक बालक बाकी बच रहा।

अन्त में वह बालक भी समिधाएं लेकर आचार्य के सामने उपस्थित हुआ और प्रणाम करते हुए बोला—"गुरुवर, माता जाबाला का पुत्र मैं आपको नमस्कार करता हूं!"

आचार्य ने आश्चर्य से उस बालक की ओर देखा, क्योंकि प्रथा के अनुसार प्रत्येक बालक ने अपने पिता के नाम के साथ अपना परिचय इस प्रकार दिया था—मैं अमुक पिता का पुत्र आपको नमस्कार करता हूं। किन्तु अन्तिम बालक ने अपने पिता का नाम न लेकर अपनी माता का नाम क्यों लिया? यह आचार्य की समझ में न आया, इसलिए आचार्य ने पूछ ही तो लिया—"वत्स, तुम्हारे पिता का क्या नाम है?"

बालक ने निवेदन किया—"मुझे अपने पिता का नाम विदित नहीं है। मैं तो केवल अपनी माता का नाम जानता हूं। उसका नाम जाबाला है इसलिए लोग मुझे भी जाबाला का पुत्र जाबाल ही कहकर पुकारते हैं। इसलिए मैंने भी अपनी माता के नाम

के साथ ही अपना परिचय दिया है। अपने पिता का नाम स्वयं मुझे भी पता नहीं।"

"तो जाओ बालक, अपनी माता से तुम अपने पिता का नाम पूछकर आओ!" आचार्य ने यह कहकर उसे घर भेज दिया।

बालक को सहसा घर आए देखकर जाबाला को बड़ा आश्चर्य हुआ। जब उसने बालक से अचानक यहां आने का कारण पूछा तो वह बोला—"माताजी, मेरे पिता का क्या नाम है?"

जाबाला ने पूछा—"क्यों, आज तुम्हें इसकी क्या आवश्यकता पड़ गई?"

बालक ने गुरुकुल में घटी सारी घटना को सुनाते हुए कहा—"माताजी, वहां आचार्य के सम्मुख प्रत्येक नये बालक ने अपने नाम के साथ अपने पिता का नाम लेकर अपना परिचय दिया था। किन्तु जब मेरी बारी आई तो मैं अपने पिता का नाम कैसे बताता? मां, तुमने मेरे पिता का नाम मुझे कभी क्यों नहीं बताया? वे कौन थे? उनका क्या नाम था? वे कहां रहते थे? वे क्या करते थे? और वे अब कहां हैं?"

जाबाला ने सचमुच अब तक अपने बेटे को उसके पिता का नाम-धाम कभी नहीं बताया था। उसने जान-बूझकर यह बात उससे छिपा रखी। यदि कभी पिता का प्रसंग बातों-ही-बातों में आ ही गया तो भी उसने बड़ी कुशलता से उसे टाल दिया। पर आज वह बालक को न टाल सकी। इसलिए उसने एक गहरी सांस लेकर कहा—"बेटा, मुझे स्वयं तुम्हारे पिता का नाम ज्ञात नहीं।"

मां की इस बात से बालक पर जैसे आकाश से बिजली गिर पड़ी हो. लेकिन अपने भावों को वश में करके उसने पूछा—"तो क्या वे तुम्हारे पति नहीं थे?"

"नहीं! न वह मेरा पति था और···" जाबाला के मुंह से

अभी उसका यह वाक्य पूरा भी न हो पाया कि बालक ने बीच में बात काटकर उस वाक्य को पूर्ण करते हुए कहा—"...और वह मेरा पिता भी नहीं था। मैं सब समझ गया मां! तुम्हें चिन्तित होने की कोई आवश्यकता नहीं। जो व्यक्ति तुम्हारा पति होने के योग्य नहीं, वह मेरा पिता भी नहीं हो सकता! जो मेरा पिता नहीं, मैं उसका पुत्र भी कैसे हो सकता हूं? बस, तुम्हीं मेरी मां हो और तुम्हीं मेरा पिता हो! मैं तुम्हारा पुत्र हूं, इससे अधिक न मुझे कुछ जानने की आवश्यकता है और न किसी को कुछ बताने की। लेकिन मैं आचार्य को जाकर क्या कहूं?"

"जो सत्य है, वही कहो बेटा! असत्य भाषण करना वैसे भी पाप है, फिर आचार्य के सामने झूठ बोलना तो तुम्हारे लिए अक्षम्य अपराध होगा। इसलिए तुम उनके सामने सारी बात सच-सच कह दो!" जाबाला ने दृढ़ता से अपने पुत्र को आदेश दिया।

ब्रह्मचारी जाबाल उल्टे पांव गुरुकुल में लौट आया और उसने सब बालकों के सामने बिना ज़रा भी हिचकिचाए आचार्य के सामने सारी बात सच-सच कह दी।

जाबाल ने समझा था कि शायद मेरी बात सुनकर आचार्य मुझसे घृणा करने लग गए हों। हो सकता है वे मुझे हीन बालक कहकर दूसरे छात्रों के साथ पढ़ाने से भी इन्कार कर दें। ये परिणाम उसकी आंखों के सामने थे। लेकिन परिणाम की भयंकरता भी उसे सत्य बोलने से रोक न सकी। जब उसने पूरे आत्मविश्वास के साथ ये कहा—"मेरी माता को भी मेरे पिता का नाम मालूम नहीं।" तो बजाय घृणा करने के आचार्य के मुख पर प्रसन्नता की एक लहर दौड़ गई और उनके मुख से सहसा निकल पड़ा—"बेटा, तुम्हारे सत्य भाषण से मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूं और अपने सभी ब्रह्मचारियों में मुझे एक भी ऐसा



सच्चा क्रान्तिकारी : मदनलाल ढींगरा

मदनलाल ढींगरा एक बहुत बड़ा देशभक्त और प्रसिद्ध क्रांतिकारी हो गुजरा है। जिन नौजवानों के हृदय में देशभक्ति की लगन होती है वे मुसीबतों को अपना जीवन साथी समझते हैं। कष्टों से घबराने के बजाय वे उन्हें अपनी परीक्षा की कसौटी समझते हैं जैसे कि अपने विद्यार्थी काल में मदनलाल ढींगरा समझते थे।

यह उन दिनों की घटना है जब विद्यार्थी मदनलाल अपनी प्रारम्भिक शिक्षा भारत में समाप्त कर चुके थे और ऊंची शिक्षा पाने की बहुत इच्छा थी। बचपन से ही उन्हें इंजीनियर बनने का बड़ा चाव था। लेकिन उन दिनों आजकल की तरह भारत में जगह-जगह और नगर-नगर में इंजीनियरिंग के कॉलिज नहीं



सच्चा क्रान्तिकारी : मदनलाल ढींगरा

मदनलाल ढींगरा एक बहुत बड़ा देशभक्त और प्रसिद्ध क्रांतिकारी हो गुजरा है। जिन नौजवानों के हृदय में देशभक्ति की लगन होती है वे मुसीबतों को अपना जीवन साथी समझते हैं। कष्टों से घबराने के बजाय वे उन्हें अपनी परीक्षा की कसौटी समझते हैं जैसे कि अपने विद्यार्थी काल में मदनलाल ढींगरा समझते थे।

यह उन दिनों की घटना है जब विद्यार्थी मदनलाल अपनी प्रारम्भिक शिक्षा भारत में समाप्त कर चुके थे और ऊंची शिक्षा पाने की बहुत इच्छा थी। बचपन से ही उन्हें इंजीनियर बनने का बड़ा चाव था। लेकिन उन दिनों आजकल की तरह भारत में जगह-जगह और नगर-नगर में इंजीनियरिंग के कॉलेज नहीं

थे। इसकी शिक्षा के लिए विद्यार्थियों को इंगलैंड जाना पड़ता था। इसलिए या तो किसी अमीर मां-बाप का कोई बेटा ही वहां जा सकता था या फिर कोई बड़ा हिम्मती बालक, जिसे अपनी ताकत और योग्यता पर पूरा भरोसा हो। मदनलाल ढींगरा इनमें दूसरी तरह का विद्यार्थी था—मेहनती ऐसा कि पढ़ाई में दिन-रात एक कर देता और बहादुर ऐसा कि मौत से भी न घबराता। इन सबसे बढ़कर उसके हृदय में देशभक्ति की प्रचण्ड ज्वाला जल रही थी जिसे दुनिया की कोई आंधी और कोई बरसात नहीं बुझा सकती थी।

हां, तो मदनलाल ढींगरा भी इंजीनियरिंग पढ़ने के लिए भारत से लन्दन गया। वहां वह कॉलेज में दाखिल पीछे हुआ, पहले वह लन्दन में रहने वाले उन देशभक्त हिन्दुस्तानियों से मिला जो भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए इंगलैंड में काम कर रहे थे। ढींगरा को यह जानकर बड़ी खुशी हुई कि लन्दन में रहने वाले कुछ साहसी हिन्दुस्तानी नौजवानों ने वहां एक ऐसे क्रांतिकारी दल का संगठन किया हुआ है जिसका उद्देश्य ताकत के द्वारा भारत में अंग्रेजी राज्य को पलटना है। देशभक्त को क्या चाहिए—अपने देश की आजादी। ढींगरा भी इसी उद्देश्य से उस क्रांतिकारी दल में सम्मिलित हो गया। क्रांतिकारी दल को पाकर ढींगरा को अपने जीवन का लक्ष्य मिल गया और मदनलाल ढींगरा जैसे साहसी युवक को पाकर उस दल में एक नया जीवन आ गया। दल का काम तो पहले भी धीमा नहीं चल रहा था, लेकिन मदनलाल के आने से उसका काम मानो खूब जोरों-शोरों से चल पड़ा।

एक दिन की बात है कि बातों ही बातों में एक साथी ने मदनलाल को शायद हंसी में कह दिया—"चल, डरपोक कहीं के!"

कोई और गाली होती तो मदनलाल को इतनी बुरी न लगती, जितना डरपोक कहलाना। यह उसकी जवानी और हिम्मत का ही अपमान नहीं था, इससे उसकी देशभक्ति पर भी सन्देह किया जा सकता था। जो डरपोक है वह देश की सेवा क्या खाक करेगा ?

इस शब्द को सुनकर उस देशभक्त विद्यार्थी की नस-नस में खून उबल पड़ा। वह एकदम अपनी जगह से उछल पड़ा। उसने पास ही पड़ी एक सुई को अपने हाथ से उठा लिया और उसे अपनी दूसरी हथेली में चुभोकर आरपार कर दिया। तब उसने मुस्कराते हुए अपने साथी से पूछा—"कहो साथी, अब तो तुम मुझे डरपोक नहीं समझते ?"

कहने वाला साथी भौचक्का रह गया। उसके मुंह से एक शब्द तक न निकल पाया। इस दृश्य को देखने वाले वहां उपस्थित दूसरे क्रान्तिकारी युवकों के लिए भी साहस का यह अपूर्व उदाहरण था। वे एक स्वर से चिल्ला उठे—"ढींगरा, धन्य है तुम्हारी वीरता। तुम्हें डरपोक कौन कह सकता है ? तुम्हारे जैसे जवानों पर ही तो भारतमाता की सब आशाएं लगी हैं।"

ढींगरा ने अपनी हथेली में से टप-टप टपकते हुए लहू की तनिक भी परवाह न करते हुए कहा—"साथियो ! अपने देश के काम के लिए तुम मदनलाल को कभी किसी से पीछे न पाओगे। जहां अपने प्राणों का बलिदान देने की आवश्यकता होगी, वहां मदनलाल सदा सबसे आगे रहेगा।" इस घटना से क्रांतिकारियों में एक नया जोश भर गया और सबने एक स्वर से नारा लगाया—

'इन्कलाब जिन्दाबाद !'
'अंग्रेजी राज मुर्दाबाद !'
'भारतमाता अमर रहे !'

चोर भी : फिर सच्चा भी

वार्षिक परीक्षा के परिणाम निकले कई दिन हो गए—एक महीने से भी ऊपर. लेकिन अभी तक सब लड़कों ने पूरी किताबें न ली थीं। अध्यापक जी ने श्रेणी में प्रवेश करते ही पूछा—"किस-किस लड़के ने पुस्तकें नहीं खरीदीं ? वे लड़के खड़े हो जाएं।"

आधे से अधिक श्रेणी खड़ी हो गई। उन्हें देखकर बजाय इसके कि अध्यापक जी को क्रोध आता या वे लड़कों को डांट-फटकार बतलाते, उल्टा वे इतने लड़कों को खाली हाथ देखकर खुश हुए। बात यह थी कि उनकी अपनी पुस्तकों की एक दुकान थी। बीस-पच्चीस ग्राहक एक साथ मिल जाएं तो कौन दुकानदार खुश नहीं होगा ?

अध्यापक जी ने लड़कों को खूब समझाकर बताया—"देखो, कल तुम सब अपने-अपने घरों से पैसे अवश्य ले आना या हमारी दुकान पर पहुंच जाना। वहां तुम्हें सब किताबें मिल जाएंगी। एक-दो दिनों में सब लड़के पुस्तकें खरीद लो !"

लड़कों को नई श्रेणी में चढ़ने का जितना चाव होता है उतना ही नई किताबें खरीदने का भी। फिर अपने मास्टर जी की दुकान है तो भला लड़के किसी दूसरी दुकान पर क्यों जाएं ?

अगले दिन अधिकांश लड़कों ने अध्यापक जी की दुकान से पुस्तकें खरीद लीं। जो उस इलाके में नहीं रहते थे उन्होंने अपने पड़ोसी दुकानदार से ले लीं, लेकिन ऐसे लड़के बहुत कम थे। तीसरे दिन विद्यालय में लड़कों में चर्चा का केवल एक ही विषय था—नई किताबें।

एक ने कहा—"मैंने अंग्रेजी की पुस्तक एक रुपये में ली है।"

दूसरा लड़का बोला—"मुझसे तो अध्यापक जी ने सवा रुपया लिया है।"

बस फिर क्या था, लड़कों में पुस्तकों के मूल्य की तुलना होने लगी। जिन लड़कों ने अध्यापक जी की दुकान से पुस्तकें ली थीं उन्हें प्रत्येक पुस्तक महंगी मिली थी और जिन लड़कों ने दूसरे दुकानदारों से पुस्तकें ली थीं वे तीन-तीन, चार-चार आने सस्ती थीं। यही हाल कापियों का था। फिर तो अगली-पिछली हर खरीद का हिसाब-किताब होने लगा। जो किताबें किसी ने महीनों पहले ली थी वे भी अध्यापक जी की दुकान से महंगी मिली थीं। भला सस्ती को छोड़कर महंगी चीज लेने कौन जाएगा? परिणाम यह हुआ कि लड़के अध्यापक जी की दुकान से किताब लेने में कतराने लगे। अध्यापक जी को यह पता चला तो उन्होंने ऐसे लड़कों की पिटाई की।

श्रेणी में एक लड़का वल्लभभाई भी था। उसे अध्यापक जी की यह बात बिल्कुल पसन्द न आई कि छोटे लड़कों को महंगी किताब लेने के लिए अध्यापक जी विवश करें। अध्यापक जी के सामने सवाल-जवाब करना उसे पसन्द न था, लेकिन उसकी नजर में अध्यापक जी लड़कों के साथ अन्याय कर रहे थे। अन्याय को सहना भी वह पाप समझता था। इसलिए उसने अन्याय का विरोध करने का निश्चय कर लिया।

वल्लभभाई ने लड़कों को इकट्ठा करके कहा—'अध्यापक जी हमसे बड़े हैं यह ठीक है, लेकिन यह बात बिल्कुल गलत है कि एक तो वे किताबें महंगी बेचें और दूसरे लड़कों को अपनी दुकान से किताबें लेने के लिए विवश करें। मेरा कहना मानो तो ऐसे अध्यापक जी से पढ़ना ही बन्द कर दो। कल कोई भी लड़का उनकी श्रेणी में नही जाएगा।"

और सचमुच अगले दिन कोई भी लड़का अध्यापक जी की श्रेणी में उपस्थित न हुआ। इसके बदले वे इधर-उधर घूमते रहे। अब बात मुख्य अध्यापक से छिपी न रही। उन्होंने लडकों को बुलाकर पूछा—"तुम अध्यापक जी से पढ़ने क्यों नही गए और इस तरह घूम क्यों रहे हो ?"

सब लड़के एक-दूसरे का मुंह ताकने लगे, पर वल्लभभाई ने नम्रता एवं दृढ़ता से उन्हें सारी बात सच-सच कह सुनाई। वल्लभभाई यद्यपि एक बालक ही था, लेकिन उसने एक बहुत बड़ी बात कही जिसका मुख्याध्यापक जी पर गहरा प्रभाव पड़े बिना न रहा। उसने कहा—"अध्यापक जी हमारे गुरु हैं और गुरुओं का आदर करना हमारा परम-कर्तव्य है। हम उनको प्रत्येक ऐसी आज्ञा का पालन करते है, करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे जो कि उचित है। किन्तु जो चीज गलत और अन्यायपूर्ण है उसे गुरु तो क्या कोई भी क्यों न कहे, उसका विरोध करना मैं अपना पहला कर्तव्य समझता हूं। इसलिए हमारा विरोध अन्याय के विरुद्ध है न कि अध्यापक जी के विरुद्ध।"

इस उत्तर को सुनकर मुख्याध्यापक जी गद्गद हो गए। उन्हें वल्लभभाई के छोटे से शरीर में एक महान् आत्मा बोलती हुई दिखाई दी। उन्होंने इसी घटना से अनुमान लगा लिया कि वल्लभभाई कोई साधारण बालक नहीं है। बड़ा होकर वह

अवश्य कोई महान् व्यक्ति बनेगा।

यह सोचकर मुख्याध्यापक जी ने उसी समय एक आदेश जारी करके लड़कों को छूट दे दी कि वे जिस दुकान से चाहें पुस्तकें खरीद सकते हैं। लड़कों ने समझा यह वल्लभभाई पटेल की जीत थी। लेकिन वल्लभभाई ने फिर अपने बड़प्पन का परिचय देते हुए कहा—"साथियो ! यह मेरी नहीं, तुम्हारी नहीं, अपितु न्याय की जीत है। गुरु और शिष्य की आपस में क्या लड़ाई और क्या हार-जीत ? आज भी अध्यापक जी हमारे लिए वैसे ही पूज्य हैं जैसे वे पहले थे।"

बड़े होकर वही वल्लभभाई भारत का एक महान् नेता बना जिसने भारत की एकता का निर्माण किया।

सच्चा परिश्रमी : जवाहर

पण्डित मोतीलाल नेहरू अपने समय के एक धनी व्यक्ति थे। लाखों की आमदनी थी और राजाओं के ठाठ से रहते थे। फिर यह विचित्र नहीं कि वे अपने इकलौते पुत्र जवाहर को राजकुमारों की तरह पालते और बढ़िया-से-बढ़िया स्कूल में पढ़ाते थे। उन दिनों भारतवासियों के लिए इंगलैंड के किसी स्कूल में पढ़ना बड़ी शान की बात मानी जाती थी। इसीलिए मोतीलाल जी ने ऊंची शिक्षा के लिए जवाहर को वहां के हैरो स्कूल में दाखिल करवाया।



हज वारलाल

कुछ समय के बाद पुत्र को मिलने के लिए वे इंगलैंड पहुंचे। जब वे स्कूल में गए तो जवाहरलाल नेहरू अपने बूटों पर आप पालिश कर रहे थे। यह मोतीलाल नेहरू की शान

के विरुद्ध था।

वे चिढ़कर बोले—"क्या मैंने तुम्हें यहां बूट पालिश करने के लिए भेजा है ? तुम यह काम नौकर से क्यों नहीं करवा लेते ?"

जवाहर बोला—"इस छोटे से काम के लिए नौकर की क्या जरूरत है ? मुझे तो अपना काम स्वयं करने में बड़ा आनन्द आता है। फिर जरा-सी बात के लिए मैं दूसरों पर निर्भर क्यों बनूं ?"

मोतीलाल जी बोले—"नहीं, तुम गरीब के बेटे नहीं हो। मैं तुम्हारे लिए हजारों रुपये खर्च करता हूं। जरूरत हो तो और भी कर सकता हूं। रुपये-पैसे की तुम चिन्ता मत करो। यदि स्कूल में कोई नौकर न हो तो तुम बूटपालिश के किसी आदमी को लगा लो।"

अगले दिन जवाहर ने नौकर के लिए छात्रा वास के अध्यक्ष को कहा। उसकी बात सुनकर अध्यक्ष महोदय बिगड़ गए और बोले—"जवाहर ! मुझे दुःख है कि तुमने अपने पिताजी को यह क्यों नहीं कहा कि अपना काम स्वयं करना हर मनुष्य का कर्त्तव्य है और यही इस विद्यालय का अनुशासन है।"

जवाहर—"मैंने कहा, पर पिताजी माने नहीं।"

अध्यक्ष—"निःसन्देह तुमने यह बात सच्चे दिल से और पूरे विश्वास के साथ नहीं कही। निश्चय ही तुमने ढीले-ढाले शब्दों में आधी-अधूरी बात कही होगी। नहीं तो यह हो नहीं सकता कि तुम्हारी बात का उन पर प्रभाव न पड़ता और वे तुम्हारी बात मान न जाते।"

अध्यक्ष का यह कथन बहुत हद तक ठीक था। अतः जवाहर की आंखें लज्जा से झुक गईं। अध्यक्ष ने उचित अवसर देखकर पूछा—"तो क्या तुम अपना अपराध स्वीकार करते हो ?"

जवाहर—"हां श्रीमान्, मैंने यह कमजोरी अवश्य दिखाई और मैं अपनी बात पूरे आत्मविश्वास के साथ उन्हें नहीं कह

सका। यह मेरी भूल है।"

अध्यक्ष—"कहो, तुम्हें इसके लिए कुछ दंड दिया जाए या नहीं ?"

जवाहर—"आप की आज्ञा मेरे सिर-आंखों पर।"

अध्यक्ष—"तो सुनो ! तुम्हें एक सप्ताह तक छात्रावास के अपने सभी साथियों के जूतों पर पालिश करनी होगी।"

जवाहर—"मैं अवश्य करूंगा, श्रीमान् ! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं वर्ष भर इस कर्त्तव्य को सहर्ष निभा सकता हूं।"

अध्यक्ष—"तुम्हारा यह उत्साह देखकर मुझे प्रसन्नता है, किन्तु इससे क्या तुम्हारे दूसरे साथी आलसी नहीं बन जाएंगे ? इसलिए तुम केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करो !"

अगले दिन जब मोतीलाल नेहरू फिर छात्रावास में आए तो उनका लाडला सचमुच ढेरों जूते पालिश कर रहा था। यह देखकर मोतीलालजी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा और उनके मुंह से सहसा निकल गया—"जवाहर ! यह क्या ?"

आज जवाहर कल की तरह लज्जित नहीं हुआ अपितु दृढ़ता से बोला—"पिताजी ! आपने मुझे जिस काम के लिए यहां भेजा है, मैं वही सीख रहा हूं।"

मोतीलाल नेहरू—"मैंने तो तुम्हें यहां ऊंची शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा है। क्या बूट पालिश भी शिक्षा है ?"

जवाहर—"हां पिताजी ! इसके द्वारा हमें यहां अपना काम स्वयं करने की शिक्षा दी जाती है। इसीको स्वावलम्बन कहते हैं क्या यह अपने-आप में एक ऊंची शिक्षा नहीं ? मैं समझता हूं कि किताबी शिक्षा से भी यह कहीं ऊंची शिक्षा है जो प्रत्येक स्कूल में नहीं दी जाती। इस प्रकार मनुष्य दूसरों की गुलामी से आजाद हो जाता है। इसलिए यह स्वतन्त्रता की पहली सीढ़ी है। मैं जब यहां से पढ़कर भारत लौटूंगा, तो अपने देशवासियों को

इंगलैंड का यही सन्देश सुनाऊंगा और कहूंगा—

"मेरे देश भाइयो ! यदि तुमने अंग्रेजों से कोई अच्छी बात सीखनी है तो श्रम करना सीखो। इंगलैंड में हर कोई अपना काम स्वय करता है और इसमें अपनी शान समझता है। यदि हम भी अपने पावों पर खडा होना सीख जाएं तो अगले ही दिन हमारा देश अवश्य स्वतन्त्र हो जाए !"

अपने लाड़ले बेटे की ये बातें सुनकर आज मोतीलाल जी को क्रोध नहीं आया, अपितु उन्हें अपने बेटे पर गर्व हो रहा था कि वह स्वदेश लौटकर बड़े-बड़े काम कर दिखाएगा।

सच्चा दयालु : गौतम

दस वर्ष का एक राजकुमार था। नाम था उसका गौतम— वही गौतम जो बड़ा होकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आधी दुनिया जिसकी शिष्य बन गई। बचपन में इसे भगवान की बनाई दुनिया देखने का बड़ा चाव था।

एक दिन वह घूमते-घूमते नदी के किनारे जा पहुंचा। ठंडी-ठंडी हवा और पानी की लहरों के नृत्य ने उसका मन मोह लिया। वह नदी के किनारे-किनारे टहलता हुआ दूर तक चला गया। सहसा उसकी नजर पानी में खड़े एक मछुए पर पड़ी जो नदी में जाल फेंक कर मछलियां पकड़ रहा था। उत्सुकतावश बालक गौतम उसका तमाशा देखने के लिए मछुए के पास चला गया।

मछुए ने बालक को देखते-देखते अपना जाल एक बार फिर नदी में फेंका। थोड़ी देर बाद जब उसने जाल को लपेटकर उसे धीरे-धीरे बाहर खींचा तो वह खाली नहीं था। उसमें एक नहीं बीसियों छोटी-बड़ी मछलियां फंस गई थीं। मछुए ने एक बड़े बर्तन में उन्हें उडेला और दोबारा जाल को पानी में फेंकने की तैयारी करने लगा।

जाल का तमाशा तो गौतम देख ही चुका था। अब उसकी आंखें मछलियों वाले बर्तन पर गड़ी थी। मछली पानी का जीव है और पानी ही उसका जीवन है। क्षणभर पहले जो मछलियां

पानी मे दायें-बायें, ऊपर-नीचे आजादी से तैर रही थी, वे ही अभागी मछलियां अब पानी के बिना बर्तन में छटपटाने लगी। एक नहीं बीसियों मछलियां नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे तड़प रही थीं। उनका यह दुःख बालक से देखा न गया। उसका जी चाहा कि बर्तन को उठाकर पानी में उंडेल दे और एक मिनट में उन छटपटाते जीवों को शान्ति दिला दे। लेकिन उसे मछुए के गुस्से का भी डर था। न जाने अपने शिकार को हाथ से निकला देखकर वह क्या कर बैठे ?

यह सोचकर गौतम मछुए से बोला—"इन मछलियों को तुम क्या करोगे ?" "बेचूंगा और क्या करूंगा"—मछुए ने जल्दबाजी में कह दिया।

"तुम्हें कितने पैसे मिल जाएंगे"—गौतम ने दूसरा प्रश्न किया।

"यही कोई चार-पांच रुपये मिल जाएंगे"—मछुए ने अनुमान से कहा।

"बस, केवल चार-पांच रुपये के लिए तुम इन बेचारी मछलियों के प्राण लेते हो ? लो, मुझसे सोने की ये अंगूठी ले लो और मछलियां मुझे दे दो।"

ऐसा बढ़िया सौदा मछुए का कभी नहीं हुआ था। उसने लपककर अंगूठी बालक के हाथ से ले ली। अब मछलियां गौतम की हो चुकी थीं। उसने झटपट बर्तन को उठाया और सब मछलियों को एक साथ पानी में वापस उंडेल दिया। तड़पती हुई मछलियों को फिर जीवन मिल गया। बालक को ऐसे लगा जैसे पहले मछलियों के साथ उसका भी दिल तड़प रहा था और अब मछलियों को सुखी देखकर उसे भी फिर नया जीवन मिल गया हो। मछुए ने अब तक केवल ऐसे ही ग्राहक देखे थे जिनकी आंखों में भूख, जीभ में स्वाद और हृदय में कसाई की कठोरता

होती थी—जो उन मछलियों को काट-छील और तल-भूनकर राक्षसों की तरह खा-चबा जाते थे; आज जीवन में पहली बार उसे एक ऐसा बालक मिला जिसकी आंखों में तड़पती मछलियों के लिए दया थी, हृदय में उन्हें सुख पहुंचाने की इच्छा और जबान पर उन्हें आजाद करने के लिए प्रार्थना के वचन थे।

मछुए ने सोचा—जब यह नन्हा-सा बालक दस-बीस मछलियों का दुःख देखकर इतना व्याकुल हो उठा है तो मैं सचमुच कितना निर्दयी हूं जो हर रोज सैकड़ों मछलियों को अपने हाथों से पकड़कर मारता हूं पर मेरा दिल कभी नहीं पसीजता! आज से मैं भी कभी मछलियां नहीं पकड़ूंगा। मछलियां पकड़ने के सिवा दुनिया में और भी तो बीसियों काम हैं। मैं भी उनमें से कोई ऐसा काम चुन लूंगा जिसमें दूसरों को कष्ट न पहुंचाना पड़े।

दस वर्ष के राजकुमार ने अपने मुंह से शिक्षा का एक वचन भी कहे बिना एक पत्थर-दिल मछुए का हृदय ही बदल दिया और उसे मोम से भी कोमल बना दिया।

सच्चा अपराधी : विनोबा

"मेरी छड़ी यहां से किसने उठाई है ?" अध्यापक ने अपनी अलमारी का ताला खोलकर अलमारी में देखते हुए कहा—"मुझे ठीक याद है, कल मैंने अपने हाथों से यहां छड़ी रखी थी और स्वयं मैंने ही ताला बन्द किया था। फिर आज छड़ी कहां गायब हो गई ? बोलो लड़को, तुम में से यह किसकी शरारत है ?"

सब लड़के चुप !

अध्यापक जी ने बड़ा पूछा, पर जब कोई लड़का न बोला तो उन्होंने फिर एक नई छड़ी मंगवाई और चुन-चुनकर लड़कों की खूब पिटाई की। पिटने वालों में विनोबा भावे भी था जिसकी आयु उस समय दस वर्ष थी।

लड़कों को पीटकर अध्यापक जी ने वह छड़ी फिर अपनी अलमारी में रख दी और अलमारी को फिर ताला लगाकर उसे खींचकर अच्छी तरह जांच लिया। लेकिन अगले दिन जब उन्होंने फिर ताला खोला तो फिर छड़ी गायब थी। उनके क्रोध का पारावार न रहा। वे झल्लाते हुए स्वयं बाहर गए और एक मोटा-सा रूल कहीं से उठा लाए। उससे उन्होंने लड़कों की ऐसी पिटाई की जैसे पहले कभी न की हो।

रूल मारते-मारते वे गरजे—"जल्दी बताओ, मेरा ताला कौन खोलता है और रोज मेरी छड़ी निकाल लेता है ? ठीक-ठीक बताओ, नहीं तो हड्डी-पसली चूर-चूर कर दूंगा। ऐसा

मारूंगा कि तुम्हें दिन को तारे दिखाई देने लगेंगे।"

लड़कों की चीखें निकल गईं लेकिन किसी ने किसी का नाम न बताया। अध्यापक जी क्रोध से होंठ चबाते हुए चले गए। उनके पीठ फेरने की देर थी कि लड़कों ने बालक विनोबा को घेर लिया।



विनोबा भावे

एक ने कहा—"देख विनोबा, तेरी खातिर हम सबको मार खानी पड़ती है। छड़ी तू निकालता है और हड्डी-पसली हमारी चूर होती हैं।"

विनोबा बोला—"वाह, सारा दोष मेरे माथे लगाते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती? क्या मैंने छड़ी अपने लिए चुराई थी या सबकी खातिर? क्या मेरे छड़ी चुराने से पहले अध्यापक जी तुम्हें नहीं मारते थे और क्या उन्हें मारना केवल मेरी चोरी ने सिखाया?"

दूसरा लड़का बोला—"भाई, अध्यापक जी तो शुरू से ही हम लोगों को खूब पीटते हैं। जरा-सी बात पर थप्पड़। थोड़ा-सा भूलने पर भी घूंसा! और बस पांच मिनट देर होने पर भी हमें बनना पड़ता है मुर्गा!"

तीसरे ने उसकी हां में हां मिलाते हुए कहा—"भाई, रोज-रोज मार खाते-खाते हम लोग तो तंग आ गए हैं।"

अब विनोबा ने अपनी सफाई पेश करते हुए कहा—"इसी-

लिए तो मैंने अध्यापक जी की छड़ी चुराई थी। मैंने सोचा था, न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।"

चौथे लड़के ने चुटकी ली—"लेकिन अगले दिन नया बांस आ गया और हमारी बांसुरी भी खूब बजी। अध्यापक जी डंडा ढूंढ़कर लाए कि यमदूत का दंड भी हम भूल गए।"

पांचवां लड़का—"लेकिन इसमें हमारा क्या कसूर है? छड़ी चुराए विनोबा और अध्यापक जी अपना गुस्सा उतारें हम पर!"

अभी पांचवा लड़का अपनी बात पूरी भी न कर पाया था कि अध्यापक जी फिर धड़धड़ाते हुए कमरे में घुस आए। लड़कों को क्या पता था कि अध्यापक जी बाहर खड़े उनकी सारी बातें सुन रहे थे। उन्होंने लड़कों की सब बातें सुन ली थीं और वे जान गए थे कि शरारत की जड़ विनोबा भावे ही है, इसलिए कमरे में आकर उन्होंने किसी को ओर देखा तक नहीं।

उन्होंने विनोबा को घूरते हुए कहा—"इधर आओ!"

विनोबा समझ गया कि आज उसकी हड्डियों की खैर नहीं। लेकिन उसे यह देखकर सन्तोष हुआ कि अध्यापक जी ने न अलमारी का ताला खोला और न उसमें से मोटा डण्डा निकाला, वे केवल अपनी कुर्सी पर जाकर बैठ गये। विनोबा भी उनकी आज्ञा मानकर अपराधी की तरह अपना मुंह नीचे करके उनके सामने खड़ा हो गया।

अध्यापक जी ने नरम डांट देते हुए कहा—"देख विनोबा, मुझे पता चल गया है कि सारी शरारत की जड़ तू ही है। अब यदि तू अपना दोष स्वयं मान लेगा और सारी बात सच-सच कह देगा, तो मैं थोड़ा दंड दूंगा, नहीं तो मेरी मार तो तू जानता ही है।"

विनोबा ने दबी जबान से सारी बात अध्यापक जी को बता

दी कि किस तरह वह चाबियां इकट्ठी करके स्कूल में लाता था; और पिटाई से बचने के लिए अल्मारी में से छड़ी को उड़ा लेता था।

विनोबा ने बात कुछ इस ढंग से कही कि उस दिन पहली बार अध्यापक जी के मुंह से डांट की बजाय हंसी छूट पड़ी और उन्होंने कहा—"अच्छा, तो तूने अपना दोष मान लिया है। इसलिए अपने वायदे के अनुसार आज मैं तुझे मामूली-सी सजा दूंगा। लेकिन इस बात का वायदा करो कि आगे से ऐसी शरारत नहीं करूंगा।"

विनोबा ने फुसफुसाते हुए कहा—"नहीं करूंगा।"

अध्यापक जी ने अपनी सजा सुनाते हुए कहा, "आओ, सामने खड़े होकर पांच बैठकें लगाओ। विनोबा बैठकें लगाने लगे तो अध्यापक महोदय ने गिनने के लिए एक लड़के को सामने खड़ा कर दिया। उन्होंने सोचा कि विनोबा पांच सौ बैठकें न लगाकर यों ही कह देगा कि मैंने पूरी बैठकें लगा ली हैं।

संयोगवश बैठकें गिनने वाला लड़का विनोबा का मित्र था, और वह शरारतों में उसका दायां हाथ था। उसने गिनती शुरू की—एक! दो! तीन! दस! पन्द्रह! बैठकें हुईं नहीं कि वह गिनते-गिनते थक गया। एक मिनट ठहरा और फिर गिनती शुरू की, एक-दो-तीन। फिर रुका, और दोबारा गिनने लगा—सत्ताईस, अट्ठाईस, उन्नीस, तीस।

उधर अध्यापक जी भी जान-बूझकर कमरे में टहलने लगे और विशेष रूप से वे दो-एक मिनट के लिए कमरे से बाहर भी चले गए। गिनने वाले ने इस मौके का खूब लाभ उठाया और अपने साथी की मदद के लिए उसकी गिनती हनुमान की फ[illegible] लगाकर एकदम तीस से तीन सौ पर जा पहुंची।

इधर विनोबा भी मन ही मन गिन रहे थे। उनकी बैठकें गिनने वाले लड़के की संख्या जब उनसे अधिक बढ़ गई तो उनकी हँसी छूट पड़ी। मित्र जोर-जोर से बोलता था और विनोबा मन ही मन गिनते थे। थोड़ी देर बाद मित्र ने कहा—"चार सौ अट्ठानवे, चार सौ निन्यानवे, पांच सौ, बस खत्म।"

तब तक अध्यापक जी भी कमरे में आ चुके थे, उन्होंने विनोबा को कहा—"बैठ जाओ।"

किन्तु विनोबा बैठे नहीं। वह फिर भी बैठकें लगाते ही रहे। अध्यापक महोदय ने पूछा—"अरे तू बैठता क्यों नहीं?"

विनोबा—"अभी पांच सौ बैठकें पूरी नहीं हुईं।"

अध्यापक जी चाहे भीतर-बाहर घूमते रहे पर उनका ध्यान पूरी तरह विनोबा की बैठकों की तरफ रहा और साफ-साफ गिनने वाले लड़के की गिनती की ओर भी। वे देखना चाहते थे, कि साथी लड़के ने तो अपने विनोबा साथी को बचाने के लिए, गड़बड़ की लेकिन अब विनोबा क्या करता है? जब उन्होंने देखा कि इस बार भी उसने सच ही बोला और धोखा करने की कोशिश नहीं की तो ताला खोलने के अपराध में उन्हें विनोबा पर जितना ही अधिक क्रोध था अब उन्हें उस पर उतनी ही अधिक प्रसन्नता हुई।

उन्होंने अपनी सजा की नई व्याख्या करते हुए कहा—"विनोबा, तुम्हारी बैठकें पूरी हो चुकी हैं। तुम बैठ जाओ।"

विनोबा—नहीं, अध्यापक जी, अभी तो केवल एक सौ तेईस हुई हैं। आपने पांच सौ लगाने को कही है।"

अध्यापक जी ने सचमुच पहले पांच सौ ही कही थी, लेकिन अब विनोबा की सच्चाई पर वे खुश थे। इसलिए उन्होंने कहा—"अरे पांच और सौ हो गईं, पांच सौ अर्थात् एक सौ पांच। इतनी तो तूने लगा ही ली, ऊपर से १८ अधिक भी लगा दीं, अब बैठ

जाओ।"

अब विनोबा बैठे, तो वे न अध्यापक की नजर में एक अपराधी थे और न साथियों की नजर में। उस समय अध्यापक जी कमरे से मुस्कराते हुए निकले और फिर उन्होंने लड़कों की पिटाई करना छोड़ दिया।

विनोबा पहले शरारतों में नेता थे, अब वे सच्चाई के नेता बन गए।

सच्चा खोजी : मूलजी

मूलजी १६ वर्ष का एक सीधा-सरल बालक था—और एक थी उसकी वहन। भाई-वहन में अटूट प्यार था। एक दिन लोग उसकी वहन को अर्थी पर उठाकर ले गए—और फिर वह कभी लौटकर न आई।

"वहन कहां गई ?" मूलजी ने पूछा।

"वह भगवान् के पास चली गई है।" चचा ने मूलजी को वताया।

"क्या वह मेरे पास कभी न आएगी ?" मूलजी ने पूछा।

"नहीं।" चचा ने उत्तर दिया।

"वहन का प्यार झूठा होता है !" मूलजी ने रुआंसे स्वर में कहा और चचा के गले से लिपटकर रोने लगा।

किन्तु एक दिन चचा भी चल बसे।

"चचाजी कहां चले गए, पिताजी ?" मूलजी ने पूछा।

"वे भी भगवान् को प्यारे हो गए हैं, बेटा !" उत्तर मिला।

"तो चचा का प्यार भी झूठा होता है। लेकिन भगवान् का प्यार अवश्य सच्चा होगा !" मूलजी के भोले-भाले मन ने सोच लिया।

फिर वह दिन-रात शिव के ध्यान में मग्न रहने लगा। उसके पिताजी शिव के भक्त थे तो बेटा शिव का सच्चा प्यार पाने के सपने देखने लगा—जो प्यार कभी न टूटे ! वह ऐसे शिव

को पाना चाहता था जिसका प्यार कभी न छूटे !

उन्हीं दिनों शिवरात्रि का त्यौहार आया। मन्दिर में शिव-पूजन की तैयारियां जोर-शोर से होने लगीं। मूलजी ने यह देखा तो उससे पूछे बिना न रहा गया—"पिताजी ! शिव-रात्रि किसे कहते हैं ? यह त्यौहार क्यों मनाया जाता है ?"



स्वामी दयानन्द

पिताजी ने समझाया—"बेटा ! यह शिव भगवान् का प्यारा त्यौहार है। इस रात्रि को जो व्रत रखकर, सारी रात जागते हुए शिवजी की पूजा सच्चे दिल से करता है, शिवजी उस पर बहुत प्रसन्न होते है।"

"तब तो मैं भी शिवरात्रि का व्रत अवश्य रखूंगा और शिवजी को प्रसन्न करूंगा।" मूलजी यह कहते हुए प्रसन्नता से नाच उठे मानो शिवरात्रि का व्रत मजे की बात हो।

मां उसके इस भोलेपन पर हंस दी और बोली—"बेटा ! यह व्रत रखना तेरे बस की बात नहीं। घड़ी आधी घड़ी तो भूख तुझसे सही नहीं जाती, फिर पहाड़-सी बड़ी रात तू भूखे पेट कैसे गुजारेगा ! जब पेट में चूहे कूदने लगेंगे तो नानी याद आ जाएगी।"

मूलजी घबराये नहीं। उल्टे छाती पर हाथ ठोककर बोले, "मां मैं यह व्रत अवश्य रखूंगा। ऐसे शुभ दिन रोज-रोज थोड़े

ही आते हैं ? रोटी तो मैं रोज ही खाता हूं। आज भूखे रहने से यदि शिवजी प्रसन्न हो जाएं तो मेरे लिए इससे बड़ी खुशी की और बात ही क्या होगी ?"

मां के मना करने के बावजूद मूलजी ने व्रत रखा। उसने अन्न-जल कुछ भी न लिया और मन्दिर में शिवलिंग के सामने जागता रहा। शिव की पूजा करता रहा।

पर आधी रात को दो घटनाएं घटीं। इधर भगवान् की आंख बचाकर सब भक्त लोग सो गए, मूलजी के पिताजी भी। अकेला मूलजी जागता रहा। उधर एक चूहा बिल से निकला और शिवलिंग पर चढ़ाई गई मिठाई को खाने लगा।

मूलजी ने सोचा—अभी शिव इस दुष्ट चूहे को उठा फेंकेंगे।

पर न शिवजी चूहे को हटा सके
और न पूजा की मिठाई को बचा सके

मूलजी ने अपने पिता को जगाकर कहा—

"पिताजी ! यह शिव की मूर्ति भी झूठी है ! छलना है ! मैं सच्चे शिव की तलाश करूंगा। वही मुझे सच्चा प्यार दे सकेगा।"

दुनियादारी की तरफ से मूलजी का दिल टूट गया। शिवरात्रि का व्रत भी टूटा और मूलजी उदास रहने लगा। पिता ने उसका विवाह करना चाहा पर एक रात वह घर के सब सगाई-सम्बन्धों को काटकर घर से भाग निकला—सच्चे शिव की तलाश में।

सिपाहियों ने पीछा करके उसे पकड़ लिया तो क्या ? पिता ने कड़े पहरे में उसे कैद कर लिया तो क्या ? वह पहरेदारों को चकमा देकर फिर भाग खड़ा हुआ। वह राह चलते बच्चे, बूढ़े, स्त्री-पुरुष से पूछता फिरता—"क्या आप किसी ऐसे गुरु को

जानते है जो मुझे सत्य के दर्शन करवा दे ?"

इसी टोह में वह निर्जन भयानक जंगलों में भटकता फिरा। नदी-नालों को पार कर पहाड़ों की चोटियों और गुफाओं में योगियों की खोज में उसने रात-दिन एक कर दिया। कई बार कटीली झाड़ियों तले रेंगते हुए उसका अंग-अंग छलनी हो गया। बर्फानी धाराओं को पार करते हुए हाथ-पांव सुन्न हो गए। कई-कई दिन बिना अन्न का एक दाना भी खाए पानी के चार चुल्लुओं पर बिता दिए। कदम-कदम पर जंगल के खूंखार जन्तुओं से वह घिर-घिर जाता। एक बार तो उसके कोमल सुडौल शरीर को देखकर देवी के पुजारी मन्दिर में उसकी बलि तक चढाने के लिए उसे घसीटकर ले गए। पर मूलजी जिस साहस के साथ घर-बार को ठुकरा कर निकला था उसी साहस से उसने इन सब विपत्तियों पर विजय प्राप्त की, क्योंकि उसके प्राण बहुत बहुमूल्य थे और उसे अभी जीवित रहना था एक महान् कार्य के लिए।

अब तक मूलजी संन्यास ग्रहण करके दयानन्द बन चुके थे जिस नाम को आज समूचा भारत असीम श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। दयानन्द की सबसे पहली सफलता मथुरा में गुरु विरजानन्द की प्राप्ति थी। स्वामी विरजानन्द नेत्रों से अन्धे थे। उनके चरणों में बैठकर दयानन्द ने न दिन को दिन जाना और न रात को रात।

झुलसती लू हो या शरीर को तीर-सी चीरती बर्फानी हवा, दयानन्द अपने गुरुजी के स्नान के लिए नित्य-नियम से नदी से जल भरकर लाते और रात को जब सारा संसार स्वप्नों में सो जाता तो यह साधक रात-रात-भर जागकर चौराहे की बत्ती के धुंधले प्रकाश में पाठ याद किया करता। अढ़ाई वर्ष की कठिन तपस्या के पश्चात् दयानन्द को सत्य के साक्षात् दर्शन हुए। वेद और शास्त्रों के सभी-गुप्त रहस्य उस पर प्रकट हो गए और उसे

ऐसा लगा जैसे सत्यार्थ के प्रकाश में उसके मन का कोना-कोना आलोकित हो उठा हो और उसके हृदय की सारी शंकाएं शांत हो गई हों।

"क्यों न मैं एकान्त में जाकर इस शान्ति और असीम आनन्द का उपयोग करूं।" क्षणभर के लिए तपस्वी का दिल ललचाया। उसकी अन्तरात्मा ने पुकारा, "छि:! दुनिया से दूर भागना तो कायरता है। वही छलना है दयानन्द, जिससे विद्रोह करके तुम घर से भाग निकले थे। जीवन का सत्य है कर्म और मानवता की सेवा!" बस दयानन्द ने निश्चय कर लिया कि झूठी धारणाओं में भटकते समाज में सत्यार्थ का प्रकाश करके रहूंगा।

उन दिनों पंडित लोग वेदों और शास्त्रों की दुहाई देकर, उनके मनमाने अर्थ लगाते और भोली जनता को बुद्धू बनाते थे। किसी को शूद्र, किसी को अछूत, किसी को पांव की जूती कहकर उन्हें शिक्षा तक प्राप्त करने से वंचित कर दिया था। देवी-देवताओं के नाम पर पैसा उतारना तो छोटी बात, जीते-जागते मनुष्य की बलि दे दी जाती थी। जो जितना ज्यादा अत्याचार कर सकता था वह उतना ही बड़ा पंडित माना जाता था। दयानन्द ने उनके गुरु को चुनौती दी, "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं, वह कभी पाप नहीं सिखा सकता। तुम्हारे अर्थ झूठे हैं।"

दयानन्द ने पंडितों को ललकारा, भरी सभाओं में उनके अर्थों को उलट साबित किया। सारी पोल खुलते देखकर उन्हें अपनी धर्म की ठेकेदारी समाप्त होती दिखाई दी। मन्दिर के देवता को कौन मानेगा, उनकी पूजा कौन करेगा, उन पर चढ़ावा कहां से चढ़ेगा—यह सब सोचकर उन्होंने दयानन्द के जीवन का अन्त कर देना चाहा। एक दिन स्वामी दयानन्द गंगा के किनारे संध्या कर रहे थे। दो पहलवानों ने उन्हें दाएं-बाएं से पकड़कर

धारा में धकेल देना चाहा। स्वामीजी बालब्रह्मचारी थे। उन्होंने एक बगल में एक पहलवान को और दूसरी में दूसरे पहलवान को दबोच लिया और स्वयं गंगा में कूद पड़े। उन्हें कुछ डुबकियां देकर स्वामीजी ने छोड़ दिया।

मथुरा के पंडों ने दयानन्द को बदनाम करने के लिए एक चरित्रहीन स्त्री को उनका ब्रह्मचर्य नष्ट करने के लिए भेजा। तब दयानन्द समाधि में बैठे थे। आंख खुली तो उन्होंने उसे 'मां' कहकर क्षमा कर दिया। एक दिन वे उपदेश दे रहे थे कि एक लठैत सामने आकर बोला—"तू देवी-देवताओं और गंगा मैया की निन्दा करता है, बोल तेरे किस अंग पर लाठी जमा दूं ?" दयानन्द ने अपने सिर की ओर इशारा करके पहलवान की ओर स्नेहभरी दृष्टि से देखा। एक बार कर्णसिंह नामक एक व्यक्ति नंगी तलवार लेकर स्वामीजी पर झपट पड़ा। स्वामीजी ने उसकी तलवार के दो टुकड़े कर डाले और बोले—"संन्यासी से शास्त्रार्थ करना है तो अपने गुरु को बुलाइए। शस्त्र की आज-माइश करनी है तो जयपुर-जोधपुर से जा भिड़िए।"

एक बार पंडित लोग झांसा देकर स्वामीजी को एक मंदिर में ले गए जो उजाड़ जंगल में था। देवी की मूर्ति दिखाने के बहाने वे लोग स्वामी जी को अन्दर ले गए। वहां एक आदमी नंगी तलवार लिए खड़ा था। स्पष्ट था कि वे देवी पर स्वामी-जी की बलि देना चाहते थे। स्वामीजी ने लपककर तलवार छीन ली और ऐसी जोर से धक्का दिया कि पुजारी औंधे मुंह जा गिरा। स्वामीजी आंगन की ओर आए तो बाकी लोग छुरियां और कुल्हाड़े लेकर उन पर टूट पड़े। दरवाजा बन्द था। स्वामी जी शेर की भांति इस फुर्ती से उछले कि दीवार कूदकर बाहर पहुंच गए। मथुरा के कुछ पंडों ने कसाइयों को पैसे का लोभ देकर भेजा। वे स्वामीजी के उपदेश में आकर चिल्लाए, "अरे

उपदेश पीछे देना, जो मांस और शराब रोज हमारे यहां खाता-पीता है पहले उसके दाम हमारे हवाले कर।" स्वामीजी ने एक हाथ से एक की गर्दन और दूसरे हाथ से दूसरे की गर्दन ऐसी जोर से पकड़ी कि सिर टकराने से पहले ही दोनों की घिग्धी बंध गई।

स्वामीजी का साहस गुंडों को पछाड़ने में इतना नहीं जितना इस बात में है कि वे अपने विरोधियों पर भी कभी क्रोध नहीं करते थे। फर्रुखाबाद में एक दिन स्वामीजी उपदेश दे रहे थे। एक व्यक्ति ने उन पर एक जूता इस जोर से फेंका कि वह स्वामीजी को बुरी तरह से लगा। लोग उस भगोड़े को पकड़कर उनके पास लाने ही वाले थे कि स्वामीजी ने उन्हें रोककर कहा—"उसने अज्ञानवश जूता फेंका है, उसे क्षमा करना ही हमारा कर्त्तव्य है।" एक बार तो एक व्यक्ति ने सड़क पर रखे मल से भरे भंगी के टोकरे को ही उठाकर स्वामी जी पर उंडेल दिया। अमृतसर में एक अध्यापक के इशारे पर लड़कों ने स्वामी जी का निशाना लगाकर पत्थर बरसाने आरम्भ कर दिए। जब सिपाही उन शरारती लड़कों को पकड़ लाए तो स्वामीजी ने बाजार से लड्डू मंगवाकर लड़कों में बांटे और उन्हें क्षमा कर दिया।

इस प्रकार सारा समाज एक तरफ था और अकेला दयानन्द एक तरफ। वह घबराया नहीं। वह विद्वान् भी था और बलवान भी। अपनी विद्वत्ता से उसने धर्म और समाज में फैले भ्रम दूर किए, अछूतों और स्त्रियों को अधिकार दिए, विधवाओं की दशा सुधारी तथा यज्ञ, हवन आदि में पशुओं व मनुष्यों की बलि देने की प्रथा का अन्त किया। उसने भारत की पुरानी संस्कृति का फिर से प्रचार किया और भारतीय समाज के अधमरे शरीर में नए प्राण फूंके। इससे समाज का कल्याण अवश्य हुआ पर जो

लोग समाज, धर्म और वेद के नाम पर अब तक ठगते रहते थे अब उनकी दाल न गलती थी। बदला लेने के लिए उन्होंने स्वामीजी के रसोइये जगन्नाथ को रुपयों का लोभ दिया। जगन्नाथ ने बहकावे में आकर स्वामीजी को कांच का विष पिला दिया। यही था एक शांत तपस्वी को समाज का अन्तिम पुरस्कार।



सच्चा अपराधी : लिखित

दो भाई थे। बड़े का नाम शंखमुनि था। वह जंगल में आश्रम बनाकर रहता था। आश्रम में फलों का एक बहुत सुन्दर बाग भी था, जिसमें आम, संतरे, अंगूर आदि हर मौसम के फल लगते थे।

छोटे भाई का नाम लिखित था। वह एक गुरुकुल में पढ़ता था। दोनों भाइयों को आपस में मिले हुए बहुत दिन बीत चुके थे। इसलिए लिखित का मन अपने बड़े भाई से मिलने को करता था। एक दिन वह अपने गुरुजी से आज्ञा लेकर अपने भाई से मिलने के लिए गया।

उस समय शंखमुनि अपने आश्रम में नहीं थे। वे किसी दूसरे मुनि के दर्शन करने के लिए गए हुए थे। छोटा भाई दूर से चलता हुआ आया था। उसे भूख भी बहुत लगी थी। उसने

सोचा, भैया को आने में पता नहीं कितनी देर लगे। तब तक क्यों न बाग में जाकर कुछ फल खा लूं ?

यह सोचकर वह बाग में गया। वहां सुनहरी और रसीले आमों से पेड़ लदे थे। उसने दो पके हुए आम तोड़ लिए और आश्रम में आकर उन्हें खाने लगा। अभी वह खा ही रहा था कि शंखमुनि बाहर से लौट आए। इतने दिनों बाद अपने छोटे भाई को देखकर वे बहुत खुश हुए।

लिखित ने आम खाते हुए कहा—"बड़े मीठे आम है। खाकर आनन्द आ गया।"

शंखमुनि ने पूछा—"तुमने ये आम कहां से लिए हैं ?"

लिखित—"आप ही के बाग से तोड़े है।"

शंखमुनि बोले—"यह तुमने अच्छा नहीं किया, मेरे भाई ! तुम जानते हो कि यह बाग मेरा है और मैं आश्रम में उपस्थित नहीं था। तुम यह भी जानते हो कि स्वामी की आज्ञा के बिना उसकी किसी वस्तु को ले लेना चोरी है। तुमने मेरी अनुपस्थिति में और मुझसे बिना पूछे ही मेरे बाग में से आम तोड़कर खाए है। अब तुम्ही बताओ कि क्या तुमने आम खाकर अच्छा किया है या नही ?"

लिखित अभी बच्चा ही तो था। उसने लड़कपन और चंचलता में आकर आम खाने में जल्दी की। तब उतावलेपन के कारण वह उचित या अनुचित की बात नही सोच सका था। किन्तु अब जब बड़े भैया ने प्यार से उसे समझाया तो उसे अपनी भूल का पता चला और वह बहुत पछताने लगा।

उसे आम खाना भूल गया और वह लज्जित होकर बोला—"भैया ! सचमुच मैंने यह अच्छा काम नहीं किया। मुझे आपकी अनुपस्थिति में आपके बाग से आम नहीं तोड़ने चाहिए थे। ऐसा करके सचमुच मैंने आपकी चोरी की है। मैं अपराधी हूं।"

शंख—"मैं जानता हूं, तुमने जान-बूझकर यह अपराध नहीं किया। अनजाने में ही तुमसे यह भूल हो गई जो किसी से भी हो सकती है। इसलिए भूल करना उतना बुरा नहीं जितना करके भी न मानना। सौभाग्य से तुम अपनी भूल को मान रहे हो। यह भी बड़प्पन की निशानी है। किन्तु भूल, आखिर भूल ही है। उसे कोई भी अच्छी बात नहीं कह सकता। कहीं वह बार-बार न होने लगे और बुरी आदत न बन जाए इसलिए अपनी भूल के लिए तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए।"

लिखित—"आप बिलकुल ठीक कहते हैं, भैया। आप जो कुछ कह रहे हैं मेरे सुधार के लिए कह रहे हैं। मैं तो मूर्खता कर रहा था। आपने मेरी गलती बताकर मेरी आंखें खोल दी हैं। मैं आपका अपराधी हूं इसलिए मुझे चोरी का दण्ड भी आप ही दीजिए।"

शंख—"अपराध चाहे तुमने किसी का भी किया हो, कहीं भी किया हो, किन्तु उसका न्याय पाने के लिए राजा के पास जाना चाहिए।"

अपने बड़े भैया की बात मानकर लिखित उसी समय राज-सभा की ओर चल दिया। वहां पहुंचकर उसने राजा के सामने सच्ची-सच्ची बात कह दी और अपने अपराध के लिए दण्ड की मांग की।

राजा के लिए यह नई बात थी। अब तक उसके पास न्याय के लिए ऐसे लोग लाए जाते थे जो लाखों की चोरी करके भी चंपत हो जाते थे, जिन्हें पकड़ने के लिए कोतवाल को खोजबीन करनी पड़ती थी। ऐसा आदमी उसने जीवन में पहली बार देखा जो छोटी-सी भूल करके भी दण्ड पाने के लिए अपने आप राज-सभा में उपस्थित हो गया। उसे दण्ड देना तो दूर, राजा तो उसके आदर के लिए एक बार सिंहासन से भी उठ खड़ा हुआ।

फिर वह बड़ी नम्रता से बोला—"ब्रह्मचारिन् ! आप तो तपस्वी आदमी है। अनजाने में छोटी-सी भूल हो जाना कौन-सी बड़ी बात है। फिर आपने उसे स्वयं स्वीकार करके जो पश्चात्ताप कर लिया है वही दण्ड आपके लिए बहुत है।"

लिखित—"लगता है गुरुकुल का ब्रह्मचारी होने के कारण आप मेरा लिहाज कर रहे हैं। नहीं तो न्याय करते समय आपके सामने सब अपराधी बराबर होने चाहिए। क्या ब्रह्मचारी और क्या भिखारी ! जब मैंने चोरी की है तो मुझे उसका दण्ड मिलना ही चाहिए।"

राजा बोला—"ब्रह्मचारिन् ! दण्ड इसलिए दिया जाता है कि अपराधी मनुष्य बार-बार अपराध न करे और वह सुधर जाए। जब बिना दण्ड दिए ही आपने अपना सुधार कर लिया है, आपको दण्ड देने की कोई आवश्यकता ही नहीं। उल्टा, आपका मन तो पहले से भी अधिक पवित्र हो गया है। इसलिए आप अपने गुरुकुल में लौट जाइए !"

लिखित—"नहीं, राजा ! मैं अपने अपराध का दण्ड पाए बिना यहां से कभी न लौटूंगा। आप मेरे साथ न्याय कीजिए।"

राजा—"ब्रह्मचारी, यह सच है कि आपने चोरी का अपराध किया है, किन्तु यह भी सच है कि राजा को क्षमा देने का अधिकार है। वह जिसे उचित समझता है उसे दण्ड दे सकता है और जिसे उचित समझता है उसे क्षमा भी कर सकता है। मैं अपने इसी अधिकार से आपको क्षमा करता हूं।"

लिखित—"लेकिन मैं क्षमा को स्वीकार नही करता। मुझे तो दण्ड ही चाहिए। न्याय के अनुसार एक चोर को दण्ड मिलना चाहिए, मुझे भी वही दण्ड दीजिए राजन् !"

राजा—"शास्त्रों में चोरी के लिए तो बड़ा सख्त दण्ड लिखा है। जिस हाथ से चोर चोरी करे उसका वह हाथ काट देना

चाहिए।"

लिखित—"तो मेरा भी यह दण्ड होगा राजन्। मैंने अपने दाएं हाथ से चोरी के आम तोड़े हैं इसलिए आप मेरा दायां हाथ काट देने के लिए दंडपाल को आज्ञा दीजिए!"

राजा—"ब्रह्मचारिन्! आप एक आदर्श अपराधी हैं। आप जैसा चोर न आज तक हुआ और न आगे कभी होगा। श्रद्धा से मेरा सिर आपके चरणों में झुका जा रहा है। फिर भी आपकी इच्छा का आदर करते हुए मैं आपका दायां हाथ काटने का आदेश देता हूं।"

राजा की आज्ञा से लिखित का दायां हाथ काट दिया गया। अपना कटा हुआ हाथ लेकर लिखित सीधे अपने बड़े भैया के आश्रम में पहुंचे तब उनके घावों से टप-टप लहू टपक रहा था। अपने भाई की यह दशा देखकर शंख की आंखों से भी आंसू टपक पड़े—टप! टप! टप!

प्रण का सच्चा : गंगाराम

पंजाब के शेखूपुरा जिले में एक बालक रहता था। उसका नाम गंगाराम था। वह अपनी धुन का पक्का था। उसने अपने परिश्रम से मैट्रिक परीक्षा पास की।

अब गंगाराम कोई काम-धन्धा करना चाहता था। उन दिनों उनके पुरोहित जी एक इंजीनियर के कार्यालय में काम करते थे। गंगाराम उनसे मिलने के लिए लाहौर गया। गंगाराम जब कार्यालय में पहुंचा तब वे अपने कमरे में नहीं थे। अतः गंगाराम वहीं एक कुर्सी पर बैठ गया। संयोगवश वह कुर्सी कार्यालय के एक बड़े इंजीनियर की थी। किन्तु गंगाराम को इस बात का पता न था। कुछ ही देर बाद वह इंजीनियर भी आ पहुंचा।

इंजीनियर ने आते ही डांटकर पूछा—"तुम कौन हो ?"

गंगाराम ने सरलता से कहा—"मैं पुरोहित जी से मिलने आया हूं!"

इंजीनियर ने क्रोध से उबलते हुए कहा—"किन्तु तुम्हें मेरी कुर्सी पर बैठने के लिए किसने कहा ? जानते नहीं, यह एक इंजीनियर की कुर्सी है। तुम सात जन्म में भी इस पर बैठने के योग्य नहीं हो सकते। इसी क्षण तुम मेरी कुर्सी छोड़कर बाहर चले जाओ!"

गंगाराम ने केवल इतना कहा—"मुझे पता नहीं था," और वह बाहर चला गया। उसके कानों में इंजीनियर के ये शब्द

रह-रहकर गूंजते—"तुम सात जन्म में भी इस कुर्सी पर बैठने के योग्य नहीं हो सकते।"

इसी बीच में पुरोहित जी आ गये। उन्होंने पूछा—"गंगाराम! तुम मैट्रिक पास कर चुके हो! अब आगे क्या करने का विचार है?"

गंगाराम ने कहा—"मैं आया तो नौकरी के विचार से था, पर अब मेरा विचार बदल गया है। अब मैं इंजीनियर बनकर दिखाऊंगा। मुझे यह कहकर उस कुर्सी से उठा दिया गया कि तुम सात जन्म में भी इस कुर्सी पर बैठने के योग्य नहीं बन सकते! अब मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं इंजीनियर बनकर दिखा दूंगा। आज मुझे जिस कुर्सी से उठना पड़ा है, मैं उसी पर अपनी योग्यता से बैठकर दिखा दूंगा।"

पुरोहित जी ने बालक गंगाराम की यह बात हंसी में उड़ा दी। उन्होने समझाया—"बेटा, इंजीनियर महोदय की बात को बुरा मत मानो! उन्होंने ठीक ही कहा है। इंजीनियर बनना साधारण बालकों का काम नहीं। मेरी बात मानो तो कोई छोटी-मोटी नौकरी कर लो। तुम्हारे लिए यह प्रबन्ध मैं करवा दूंगा।"

गंगाराम अपने निश्चय पर अटल रहा। वह शीघ्र ही लड़कों के टामसन कॉलेज में प्रविष्ट हो गया। वहां इंजीनियरिंग की पढ़ाई में उसने दिन-रात एक कर दिया। कुछ दिनों बाद इंजीनियर बनकर उसने अपनी बात सच्ची कर दिखाई। फिर वह लाहौर के उसी कार्यालय में इंजीनियर की कुर्सी पर सचमुच बैठा। यही व्यक्ति आगे चलकर 'सर गंगाराम' के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंने भारत में निर्माण के बड़े-बड़े कार्य किए। सर गंगाराम अस्पताल उन्हीं के दान और नाम से चल रहा है।

सच्चा तपस्वी : ध्रुव

ध्रुव : मां ! तुम उदास क्यों हो ?
सुनीति : यूं ही बेटा ! कोई पुरानी बात याद हो आई।
ध्रुव : मुझे भी बताओ न मां ! क्या मैं उस बात को ठीक नहीं कर सकता ?
सुनीति : (आह भरकर) मेरा बेटा क्या नहीं कर सकता ? मेरा बेटा सब कुछ कर सकता है।
ध्रुव : तो फिर रोती क्यों हो ? बताओ ना ! मैं उस बात को ठीक करूंगा।
सुनीति : तुम्हें क्या इन बातों से ? तुम अपना खेलो-कूदो, नाचो-गाओ।
ध्रुव : किससे खेलूंगा मां !
सुनीति : किससे खेलो—खिलौने हैं—घोड़ा है—बाजा है, जिससे जी चाहे खेलो।
ध्रुव : मां ! उत्तम तो पिताजी से खेलता है। हम भी पिता जी के साथ खेलने जाएंगे।
सुनीति : नहीं बेटा ! तुम यहां मेरे पास खेलो !
ध्रुव : नहीं, हम जाएंगे, जाएंगे, जरूर जाएंगे। (जाता है)
सुनीति : तो मेरे लाख मना करने पर भी वह चला ही गया··· अपने पिता के साथ खेलने ! लेकिन क्या महाराज भी मेरे लाल को उसी चाव से एक बार भी 'बेटा' कहकर बुलाएंगे जिस चाव से उत्तम को बुलाते हैं ? हाय ! न

जाने यह मेरी बाईं आंख क्यों बार-बार फड़कने लगी है ! ध्रुव हठ करके सुरुचि के महलों में गया तो है लेकिन मेरा हृदय धड़क रहा है। जब तक मेरा लाल वापस नहीं लौट आता तब तक मैं उसी की चिन्ता में तड़पती रहूंगी।

(गहरी सांस लेकर) भगवान् ने कैसा हीरा-सा बेटा मेरी गोद में दिया है, लेकिन मैं···

अभागिन सुनीति···(रोती है)

हाय ! मैं ही क्यों न मर जाऊं ! न इस हीरे से बेटे को अनाथों की तरह भटकते देखूं और न आंसू बहाती रहूं। मेरी उदासी ने आज फूल से मुस्कराते ध्रुव को भी उदास बना दिया। जी बहलाने गया है सुरुचि के घर, भगवान् उसका कल्याण करे।

(२)

सुरुचि : शाबाश ! एक बार और ! एक बार और ! जोर लगाकर उछल···एक, दो, तीन !
(बालक के उछलकर धरती पर पांव पटकने का शब्द) रो···शाबाश···पकड़ लिया खिलौना। पकड़ लिया, पकड़ लिया, य···ह

उत्तानपाद : (बच्चे की खुशामद करता हुआ खुशी से हंसता है) सुरुचि, अब तो तुम्हारा उत्तम बड़ा बहादुर हो गया।

सुरुचि : तो उसे बहादुरी का कुछ इनाम भी तो दीजिए।

उत्तानपाद : ऐ···इधर आओ बेटा···इधर *आओ*—ऐ···इधर आओ मेरी गोदी में···यह लो इनाम (तीन बार चूमते हैं) बस !

सुरुचि : नहीं उत्तम ! अपने महाराज से कहो कि राजकुमार इतने से ही संतुष्ट नहीं हो जाते। वे प्यार के साथ अधिकार भी चाहते हैं। आज तुम्हारे महाराज तुम पर खुश हैं। उनसे अपना अधिकार मांग लो।

उत्तानपाद : सुरुचि ! कहने को तो इस राज्य का राजा मैं हूं किन्तु वास्तव में इसकी सम्राज्ञी तुम हो। तुम्हारे ही इशारे पर उत्तानपाद कठपुतली की तरह काम करता है। तुम अपने हाथ की डोर हिलाकर जैसा चाहो मुझसे नाच नचवा सकती हो।

सुरुचि : नहीं महाराज ! मैं अपने अधिकार की भिक्षा नहीं मांगती आपसे। मैं तो अधिकार की रक्षा चाहती हूं इस नन्हे बालक उत्तम की।

(एक बालक का प्रवेश)

ध्रुव : उत्तम !

उत्तम : वह देखो पिताजी ! ध्रुव आ गया ! मैं भी उसके साथ खेलूंगा।

सुरुचि : (अपने आप बुड़बुड़ाती है) कैसे बुरे समय पर आ धमका है यह कलमुंहा ! जैसे वह डायन खड़ी मेरी सब बातें सुन रही थी। है मौन, पर अपने लाड़ले को वहां धकेल दिया—मेरे दिल को जलाने के लिए—मेरी खुशियों को आग लगाने के लिए !

ध्रुव : पिताजी ! हम आ…गए !

राजा : उत्तम अभी तुम्हें याद कर रहा था।

उत्तम : ध्रुव भैया ! बूझो तो मेरी मुट्ठी में क्या है ?

ध्रुव : तुम्हीं बताओ !

उत्तम : ना, पहले तुम बताओ।

ध्रुव : नहीं बताते तो फिर मैं तुम्हारे साथ नहीं खेलूंगा !

उत्तम : अच्छा, इधर आओ, मैं कान में बताऊंगा।

(फुसफुसाहट ! ध्रुव और उत्तम किलकारियां और तालियां मारकर जोर से हंसते हैं)

ध्रुव : तो हम भी पिताजी की गोद में बैठेंगे ! पिताजी हमें भी खिलौना देंगे !

उत्तम : तुम्हें नही देंगे।

ध्रुव : क्यों नहीं देंगे ?

उत्तम : माताजी कहती थीं कि पिताजी ध्रुव को चीज नहीं देंगे।

ध्रुव : पिताजी !

सुरुचि : ध्रुव ! तुम बड़े नटखट हो गए हो। गोदी में चढ़कर पिताजी को क्यों तंग करना चाहते हो ? वे तुम्हें गोदी में नहीं बिठाएंगे।

ध्रुव : तो फिर उत्तम को क्यों बिठाया है ! आं ! हम भी बैठेंगे।

सुरुचि : (घुड़ककर) मैं जो कहती हूं ध्रुव ! तुम महाराज की गोदी में नहीं बैठ सकते। उन्होंने उत्तम को अपनी गोदी में बिठाया है, क्योंकि वह मेरा बेटा है। तू तो सुनीति का बेटा है। सुनीति का बेटा महाराज की गोदी में नहीं बैठ सकता। उसका स्थान उस कंगालिन की ही गोदी में है, महाराज की गोदी में नहीं।

(बूटों की टपटप और ध्रुव के सिसकने की आवाज)

ध्रुव : (रोती आवाज में) मां !

सुनीति : कौन, ध्रुव ! अरे तू तो उत्तम से खेलने गया था,

इतनी जल्दी लौट भी आया ?

ध्रुव : (सिसकियां भरता है। बोलता कुछ नहीं)

सुनीति : अरे तू तो रोने लगा, क्या बात है ? क्या रास्ते में गिर गया कहीं ?

ध्रुव : नहीं !

सुनीति : क्या उत्तम से लड़ाई हो गई ?

ध्रुव : नहीं !

सुनीति : तो फिर क्या हुआ ? बोलता क्यों नहीं ?

ध्रुव : (फूटकर रोते हुए) छोटी मां ने···

सुनीति : मारा है ? कुछ तोड़-फोड़ की होगी न तूने।

ध्रुव : नहीं ! मैंने तोड़-फोड़ बिलकुल नहीं की। जब मैं गया तो उत्तम पिताजी की गोदी में बैठा था। मैं भी बैठने लगा तो छोटी मां ने मुझे नहीं बैठने दिया। कहती थी कि तुझे इस गोदी में बैठने का अधिकार नहीं।

सुनीति : इसमें उसका कोई दोष नहीं मेरे लाल ! यह सब मेरा दोष है जिसने तुझ जैसे आत्माभिमानी पुत्र को जन्म दिया और उसे मिट्टी के मोल लुटा दिया। मैंने तुझे मना किया था न कि वहां मत जा, मत जा किन्तु तू क्यों लगा मानने ? (पुचकार कर) बेटा, तू मेरे पास खेला कर ! मेरी गोदी में बैठकर ! मैं अपने जिगर के टुकड़े को छाती से लगाकर रखूंगी। तू महाराज की गोदी में जाता ही क्यों है, जब वे तुझे बिठाते नहीं ?

ध्रुव : फिर उत्तम जो बैठता है।

सुनीति : उत्तम छोटा है न ! इसलिए वह छोटे महाराज की गोदी में बैठता है। लेकिन तुम तो बड़े हो न !

इसलिए तुम्हारा स्थान बड़े महाराज की बड़ी गोदी में है।

ध्रुव : तो क्या पिताजी से भी बड़े महाराज हैं ?

सुनीति : हां, तुम्हारे पिताजी से भी बड़े महाराज है। उन्हें भगवान् कहते हैं। वे छोटे-बड़े सबसे प्यार करते हैं, किसी को ठुकराते नहीं।

ध्रुव : तो क्या भगवान् अपनी गोदी में बिठाएंगे ?

सुनीति : हां, अवश्य ! जो मनुष्य उनके चरणों में गिरता है, भगवान् उसे उठाकर अपने गले लगाते हैं।

ध्रुव : मां, मैं समझता था कि पिताजी से बड़ा कोई नहीं, परन्तु यदि उनसे भी बड़ा भगवान् है तो मैं उसे प्रसन्न करूंगा और उसकी गोदी में बैठूंगा। मां ! भगवान् कहां रहते है और कैसे मिलते हैं ?

सुनीति : बेटा ! भगवान् सब जगह रहते और सबके मालिक हैं। जो लोग सच्चे दिल से उनको याद करते हैं वे अवश्य उन्हें दर्शन देते हैं।

ध्रुव : तो माताजी ! मैं प्रण करता हूं कि जब तक भगवान् को न पा लूंगा, तब तक चैन न लूंगा। मैं स्थान-स्थान पर वन-वन को छान मारूंगा और तभी घर लौटूंगा जब भगवान् मुझे दर्शन दे देंगे।

सुनीति : बेटा ! अभी तुम्हारी आयु ही कितनी है। यह तुम्हारे खाने-पीने और हंसने-खेलने का समय है। तुम घड़ी भर के लिए घर से बाहर खेलने जाते हो तो तुम्हारे बिना मेरे प्राण निकलने लगते हैं। फिर वनों की भयंकरता को जानते-बूझते हुए मैं तुम्हें कैसे जाने की आज्ञा दे सकती हूं ?

ध्रुव : लेकिन माताजी ! मैं तो अब प्रण कर चुका हूं।

आप ही कहा करती हैं कि मेरा नाम ध्रुव है जिसका अर्थ होता है अपने धर्म पर दृढ़ रहने वाला। मां! मैंने अपने जीवन में यह पहला ही प्रण किया है। क्या आप चाहती हैं कि मैं इस पहले ही प्रण को तोड़कर अपने नाम को झूठा करूं?

सुनीति : बेटा! तेरे नन्हे से मुंह से ज्ञान की ये बातें सुनकर मेरा रोम-रोम खुशी से खिला जा रहा है; किन्तु क्या करूं, जिगर के टुकड़े को अपने से अलग करने को जी नहीं मानता। बाहर की मुसीबतों का ध्यान करती हूं तो भय से शरीर कांप उठता है।

ध्रुव : मां! तुम्हीं ने तो मुझे बताया है कि भगवान् सब जगह मौजूद हैं और वे हमारा पालन-पोषण करते हैं, फिर मैं जहां भी जाऊंगा वहीं मेरी मदद करने को भगवान् मेरे साथ होंगे। भगवान् के साथ रहते, जो कि सारी दुनिया के मालिक हैं, मुझे किस बात का डर है? अब मां! मुझे आशीर्वाद दो कि मैं अपने प्रण पर पूरा उतरूं।

सुनीति : जाओ बेटा! जब तुम्हारा निश्चय इतना ऊंचा है तो तुम्हें रोकने वाली मैं कौन होती हूं! अब मैं क्या, संसार की कोई भी शक्ति तुम्हें अपने निश्चय से नहीं डिगा सकती। जाओ, भगवान् तुम्हारा कल्याण करे।

ध्रुव : अच्छा माताजी प्रणाम।

एक ओर—

(प्रातःकाल सूचक मुर्गे की बांग। पक्षियों की चह चहाहट)

ध्रुव : (गद्गद स्वर में गाते हुए)
सबके प्यारे राजा राम।
सबसे सच्चा तेरा नाम।

दूसरी ओर—

नारद : (सारंगी बजाते हुए) (पक्षियों की चहचहाहट) कैसा सुहावना समय है! डाल-डाल और पात-पात से भगवान् की स्तुति के शब्द सुनाई दे रहे हैं। जी चाहता है पक्षियों के ताल के साथ ताल मिलाकर जी भरकर नाचूं।
('सबके प्यारे···तेरा नाम' की आवाज स्पष्ट होती जाती है)

नारद : (आश्चर्य से) हैं! यह रामधुन की आवाज किसकी सुनाई दे रही है! (सबके प्यारे···तेरा नाम) किसी बालक का स्वर है। ('सबके प्यारे···तेरा नाम' की आवाज बहुत स्पष्ट) (इस ओर सारंगी की झंकार और नारद की पदध्वनि)

नारद : बालक!

ध्रुव : (गद्गद स्वर में 'सबके प्यारे···' गाता जाता है)

नारद : कितनी तन्मयता है इसकी! मेरे आने का इसे पता तक नहीं। बालक! तनिक आंखें खोल।

ध्रुव : मैं आपको प्रणाम करता हूं।

नारद : तुम्हारा कल्याण हो बालक!

ध्रुव : महाराज! आपके दर्शनों से मुझे असीम शान्ति प्राप्त हो रही है। कृपा करके मुझे बताइए कि आप किस दिव्यलोक के वासी हैं और मैं किस प्रकार आपको प्रसन्न कर सकता हूं।

नारद : बालक! मेरा नाम नारद मुनि है और तीनों लोकों में विचरण करके भगवान् की लीला को देखना ही मेरा काम है। चलते-चलते इस बीहड़ वन में तुम्हारे मधुर कंठ को सुनकर तुम्हें देखने के लिए चला आया हूं। इस भयंकर वन में तुझे अकेले बैठे देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है कि किस कारण से तुम घर के सुख-सामान छोड़कर वनों की खाक छानते फिरते हो? तुम्हारा नाम क्या है और तुम किसके बालक हो?

ध्रुव : मुनिवर! मेरा नाम ध्रुव है और मैं महाराज उत्तानपाद तथा माता सुनीति का पुत्र हूं। सौतेली मां के द्वारा अपमान किए जाने के कारण मुझे इस संसार से वैराग्य हो गया है और मैं उस भगवान् की खोज लगाने के लिए तपस्या कर रहा हूं जो किसी को भी अपनी गोद में बिठाने से इंकार नहीं करते।

नारद : (ठहाका लगाकर) बस, केवल इतनी-सी बात के लिए तुम घर से रूठकर चले आए! बेटा! चलो मेरे साथ, अपने घर वापस लौट चलो। नन्हे-से बालक का मान और अपमान क्या? जीवन में प्रतिदिन अनेकों प्रकार की घटनाएं घटती हैं। उनसे अज्ञानी लोग दुःखी होते हैं, किन्तु बुद्धिमान् लोग कभी दुःखी नहीं होते। भगवान् तुम्हें जिस भी अवस्था में रखे उसी में खुश रहना तुम्हारा कर्त्तव्य है। चलो, लौट चलो।

ध्रुव : महाराज! मैं बड़ा ढीठ बालक हूं। आपकी उपदेशभरी बातें मेरे हृदय में तनिक प्रभाव नहीं कर

रहो दीखतीं । मैं जिस बात का प्रण कर चुका हूं या तो उसे निभाकर छोड़ूंगा नहीं तो इसी स्थान पर अपने प्राण त्याग दूंगा। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि आप भी मुझे आशीर्वाद दें कि मैं अपने प्रण को पूरा निभा सकूं ।

नारद : (गम्भीर स्वर में) ऐसा ही होगा और अवश्य होगा। बेटा ध्रुव, मैं तो केवल तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही ऐसी निराशा-भरी बातें कर रहा था, किन्तु तुम्हारे ध्रुव निश्चय को देखकर मुझे विश्वास है कि तुम किसी भी विपत्ति के आगे नहीं झुक सकते, स्वयं भगवान् को तुम्हारे सामने झुकना पड़ेगा । तुम्हारी सफलता के लिए मेरा यही आशीर्वाद है ।

सच्चाई प्रतियोगिता : तीन पुरस्कार

हमारे रामनगर क्षेत्र में बालक-बालिकाओं के दस विद्यालय हैं। उनका आपस में बड़ा मेल-जोल है। वे बहुत-से काम आपस में मिलकर करते हैं। कई बार मिलकर खेलते हैं। मिलकर घूमने जाते हैं। मिलकर सभाएं और जलसे करते हैं। इससे विद्यार्थियों को बड़ा लाभ होता है और आनन्द आता है। इस प्रकार के आपस में साझे कार्यक्रमों में सबसे बड़ा कार्यक्रम है—पुरस्कार वितरण-उत्सव। यह साल में एक बार अवश्य मनाया जाता है। इसमें दसों विद्यालय भाग लेते हैं और उनके सबसे अच्छे बालक-बालिकाओं को पुरस्कार दिए जाते हैं।

रामनगर के बड़े शिक्षा अधिकारी श्रेष्ठ बालकों के लिए हर साल प्रतियोगिताएं रखते हैं। इस वर्ष की प्रतियोगिता का विषय था—'सच्चे बच्चे ! कितने अच्छे।'

यह विषय विद्यार्थियों को बहुत पसन्द आया। सैकड़ों लड़के-लड़कियों ने सचाई का व्रत लिया और सचमुच 'सच्चे बच्चे' बनने का यत्न किया। इस काम में अध्यापकों ने अपने छात्रों की बड़ी सहायता की। उन्होंने बच्चों को समझाया—"प्यारे बच्चो !

सचाई सबसे अच्छी और सबसे ऊंची अच्छाई है। इस एक गुण में दुनिया-भर के सब गुण आ जाते हैं। सचाई के तीन काम हैं—

(१) दिल से सदा सच्ची बात सोचना।
(२) मुंह से सदा सच्ची बात कहना।
(३) हाथ-पांव से सदा सच्चे काम करना।

ये तीन तो करने योग्य काम हैं। इनके साथ-साथ हमें तीन काम कभी नहीं करने चाहिए—

(क) हमें दिल से झूठी बात कभी न कहनी चाहिए।
(ख) हमें मुंह से झूठी बात कभी न कहनी चाहिए।
(ग) हमें हाथ-पांव से झूठा काम कभी न करना चाहिए।

जो बालक सचाई के तीन काम करता है और झूठ के तीन काम कभी नहीं करता वही सच्चा बच्चा है। वही सबसे अच्छा है। तुम सब सच्चे और अच्छे बच्चे बन सकते हो।"

अध्यापकों की इन बातों से सब विद्यालयों के छात्र-छात्राओं को बड़ी प्रेरणा मिली। इससे उन्हें सत्य सोचने, सत्य बोलने और सत्य करने के लिए बड़ा उत्साह मिला। उन्होंने सचाई का खूब अभ्यास किया।

अध्यापक लोग बड़े ध्यान से उन्हें देखते रहे। अपनी देख-रेख के अनुसार उन्होंने छात्र-छात्राओं को सचाई के अंक दिए। आज उसी प्रतियोगिता का परिणाम सुनाया जाएगा। सबसे अधिक अंक पानेवाले छात्र-छात्राओं को पुरस्कार भी दिए जाएंगे।

लो, उत्सव की सब तैयारियां पूरी हो गईं। शिक्षा अधिकारी भी आ पहुंचे हैं। सब विद्यालयों के छात्र-छात्राएं भी अपनी-अपनी पंक्ति में बैठ गए हैं। मंच पर रंग-बिरंगे पुरस्कार सजाकर रख दिये गए हैं। राष्ट्र-गान के बाद पुरस्कार बांटने का कार्यक्रम आरम्भ होने ही वाला है। चलो देखें किस-किसको इनाम मिलता है। हो सकता है पुरस्कार पानेवाले विजेताओं में हमारा भी नाम हो।

पहला पुरस्कार : नाम का सच्चा

शिक्षा अधिकारी—'सच्चे बच्चे कितने अच्छे' प्रतियोगिता का पहला पुरस्कार विद्यालय नम्बर १ के छात्र सत्यपाल को दिया जाता है। इसे यह पुरस्कार सच्चे काम करने के लिए दिया जाता है जिसकी घटना इस प्रकार है—

सत्यपाल एक निर्धन लड़का है। उसके पिता इस दुनिया में नहीं हैं, घर में एक छोटी बहन और बूढ़ी मां हैं। कमाने वाला कोई बड़ा नहीं है। इसलिए सत्यपाल सुबह-शाम अखबार बेचता है। इससे जो थोड़े-बहुत पैसे मिलते हैं उनसे घर का खर्चा चलाता है।

एक दिन की बात है कि हर रोज की तरह उस दिन शाम को भी वह बाजार में अखबार बेच रहा था। संयोगवश उस दिन वर्षा हुई थी और सड़क पर कीचड़ हो गया था। कुछ-कुछ बूंदें तब भी पड़ रही थीं। सत्यपाल के कपड़े भी भीग गए थे फिर भी वह पटरी पर बैठा अखबार बेचता रहा। पहले कड़ी धूप में भी वह तब तक घर नहीं लौटता था जब तक सब अखबार न बिक जाएं। पर उस दिन न जाने क्यों कोई अखबार खरीदने वाला आया ही न था। जब पटरी पर बैठे-बैठे बहुत देर हो गई और एक भी ग्राहक न आया तब सत्यपाल ने घूम-घूमकर लोगों के पास पहुंच-पहुंचकर आवाज लगाई—

"आज का ताजा अखबार लो!
शाम के ताजा समाचार लो!"

पर आज अखबार पढ़ने की किसी को फुर्सत नहीं थी। सब घर पहुंचने की जल्दी में थे। इसलिए सत्यपाल का एक भी अखबार न बिका। उधर सूर्य भी ढल चुका था और सांझ का झुटपुटा घने से घना होता जा रहा था। यह देखकर सत्यपाल

को चिन्ता हुई, आज अगर अखबार न बिके तो क्या होगा ?

तभी उसका दूसरा साथी उधर निकला। नाम था उसका चंचल। दोनों एक साथ अखबार लेकर निकले थे। चंचल के सब अखबार बिक चुके थे पर बेचारे सत्यपाल का एक भी नहीं।

सत्यपाल ने हैरानी से उसके खाली हाथों और भरी जेब की ओर देखा। फिर कहा—"भई तुम तो बड़ी जल्दी निपट गए।"

चंचल बोला—"और तुम अभी हाथ पर हाथ रखे बैठे हो! ऐसे तो तुम्हारे अखबार रात तक नहीं बिकेंगे!"

"तो फिर क्या करूं?" सत्यपाल ने हैरान होकर पूछा।

"दो-चार चटपटी खबर जोर-जोर से दुहराओ। जैसे—'बैंक में सनसनीखेज डकैती!' 'लुटेरे रंगे हाथ पकड़े गए।' फिर देखो तुम्हारे अखबार कैसे चटपट बिकते हैं!" चंचल ने अपनी शान दिखाते हुए कहा।

सत्यपाल ने कहा—"पर ऐसी बड़ी कोई खबर तो आज के अखबार में है ही नहीं!"

चंचल बोला—"अरे, बड़ी खबर नहीं है तो चोरी की छोटी-मोटी खबर तो है। उसे नमक-मिर्च-मसाला लगाकर बड़ी खबर बनाना तुम्हारे अपने हाथ में है। बस, फटाफट अखबार बेचने का यही ढंग है। ऐसा ही करना लो, मैं चला।"

चंचल का बताया हुआ उपाय सचमुच पक्का और अचूक था। इससे मिनटों में सारे अखबार बिक सकते थे। पर उसके लिए सत्यपाल का दिल न माना। वह आपसे आप कहने लगा—'मैंने तो विद्यालय में सच्चाई का व्रत लिया है। किन्तु चंचल का बताया उपाय तो सरासर झूठ है। झूठी खबरों के लिए पहले दिल से झूठी बात सोचनी पड़ती है। फिर मुंह से झूठी खबर दुहरानी पड़ती है और अंत में हाथों से गलत ढंग से अखबार बेचने का झूठा काम करना पड़ता है। इतना बड़ा झूठ तो मैं

कभी नहीं करूंगा। भले ही आज मेरा एक भी अखबार न बिके। भले ही आज हमें भूखा रहना पड़े।'

पीछे खड़े अध्यापक जी ने यह सारी घटना अपनी आंखों से देखी और सत्यपाल की बातें अपने कानों से सुनीं। उस समय उनके साथ एक सेठजी भी थे। एक छोटे से बालक की यह सचाई देखकर वे भी बहुत खुश हुए।

उन्होंने आगे बढ़कर सत्यपाल को कहा—"शाबाश, विद्यार्थी! तुम्हारी सचाई से मुझे बहुत खुशी हुई। अब से तुम्हें अखबार बेचने का कष्ट नहीं करना पड़ेगा, मैं तुम्हें पचास रुपये मासिक छात्रवृत्ति दिया करूंगा।"

कोई और लड़का होता तो ऐसी छात्रवृत्ति पाकर वह बहुत खुश होता। पर सत्यपाल ने हाथ जोड़कर कहा—"सेठजी, आपकी इस कृपा के लिए मैं आपका बहुत धन्यवाद करता हूं। किन्तु छात्रवृत्ति के बदले यदि आप मुझे सायंकाल को कोई काम दिलवा सकें तो आपकी बड़ी कृपा होगी।"

यह सुनकर सेठजी और भी खुश हुए और बोले—"मैं समझ गया, तुम दान लेने के बदले मेहनत की कमाई खाना पसन्द करते हो। इससे पता चलता है कि जहां तुम सच्चे लड़के हो वहां मेहनती भी हो। ऐसे लड़के की मुझे बहुत आवश्यकता भी है। स्कूल के बाद तुम दो घण्टे के लिए मेरी दुकान पर काम किया करो। बदले में तुम्हें एक सौ रुपये वेतन मिलेगा।"

इस प्रकार से सत्यपाल ने अपने नाम को सच कर दिखलाया। सचाई का एक इनाम तो उसे परमात्मा ने सेठजी के हाथों से उसी दिन दे दिया। दूसरा पुरस्कार उसे अब दिया जा रहा है।

फिर सत्यपाल का नाम पुकारा गया तो उसने उठकर शिक्षा अधिकारी से पहला पुरस्कार प्राप्त किया।

दूसरा पुरस्कार : कर्त्तव्य का सच्चा

शिक्षा अधिकारी—इस प्रतियोगिता का दूसरा पुरस्कार विद्यालय नंबर दो के छात्र सचदेव को दिया जाता है। पुरस्कार का सम्बन्ध एक पत्र से है जो कुछ समय पहले विद्यालय के मुख्याध्यापक के नाम आया था। उस पत्र में सचदेव की सचाई की घटना लिखी है इसलिए वह पत्र सबको सुनाया जाता है। वह इस प्रकार है—

सेवा में,
मुख्याध्यापक,
विद्यालय नंबर दो,
रामनगर क्षेत्र।

श्रीमान्,

आपका विद्यालय बड़ा सौभाग्यशाली है जिसमें सचदेव जैसे छात्र पढ़ते हैं। इस छात्र को मैं कल तक बिल्कुल नहीं जानता था। आज अचानक मेरे साथ एक अनोखी घटना घट गई जिसके कारण सचदेव से मेरा परिचय बड़े अनोखे ढंग से हुआ। घटना इस प्रकार है—

आज प्रातःकाल हमारे घर में अचानक कुछ अतिथि आ गए थे। उनके साथ बातें करने में मैं इतना मग्न हो गया कि मुझे समय का ध्यान ही न रहा और साढ़े नौ बज गए। घड़ी ने जब एक बार 'टन' बजाया तो मेरी नींद टूटी। मैंने अपनी तरफ से बहुत जल्दी की पर हाथ-पांव जल्दी चलते ही न थे। मशीन तो थी नहीं कि बटन दबाते ही काम हो जाता। घर से निकलते-निकलते पौने दस बज गए। मैं ज्यों ही घर से निकला त्यों ही सामने के बस स्टैंड पर हमारे कार्यालय की ओर जाने वाली बस खड़ी दिखाई दी। उसे पकड़ने के लिए मैं एड़ी-चोटी का अपना सारा जोर लगाकर भागा।

अभी मैं बस से कुछ ही दूर था कि ड्राइवर ने इंजन चालू कर दिया। मैंने भी आखिर जोर लगाया और बस के चलते ही पायदान के पास जा पहुंचा। नियम के अनुसार अब मुझे बस पर नहीं चढ़ना चाहिए था, किन्तु कार्यालय में देर होने के भय से मैंने उसी बस को पकड़ने का यत्न किया। मैं चलती बस की ओर लपका और सौभाग्यवश उस पर चढ़ने में भी सफल हो गया। किन्तु इस दौड़-धूप में मेरा चमड़े का बैग मेरी बगल से फिसल कर नीचे गिर गया जिसका मुझे पता तक न चला। मैं तो बड़ा खुश था कि बस मिल गई और मैं समय पर अपने कार्यालय में पहुंच जाऊंगा। किन्तु जब टिकट लेने की बारी आई तो मुझे पता चला कि मेरा बैग तो कहीं नीचे ही गिर गया है। तब तक बस बहुत आगे निकल चुकी थी। मैंने सोच लिया कि अब बैग की आशा करना व्यर्थ है। इसलिए मैंने पीछे लौटने के बदले अपने कार्यालय जाना ही उचित समझा। पर मैं बैग को एक मिनट के लिए भी भूल नहीं सका, क्योंकि उसमें मेरे एक सौ रुपये तथा कुछ कीमती कागजात भी थे।

लगभग दो घंटे के पश्चात् आपका छात्र सचदेव मेरा बैग लेकर जब अचानक मेरे सामने आया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह पसीने से तर था और हांफ रहा था, जिससे स्पष्ट था कि वह दूर तक दौड़ता हुआ आया है।

इससे पहले कि मैं उससे कुछ पूछता, उसने हांफते हुए मुझसे पूछा—"क्या आप ही श्री रविकान्त वर्मा हैं?"

मैं—"हां, यह मेरा ही नाम है। यह मेरा बैग आपको कहां से मिला?"

सचदेव—"जब आप बस पर चढ़ रहे थे तब मैंने बैग को नीचे गिरते हुए देख लिया था, किन्तु तब मैं वहां से बहुत दूर था। जब तक मैं बैग के पास पहुंचा तब तक आपकी बस बहुत आगे

निकल चुकी थी। बस को पकड़ना तो मेरे लिए असंभव था फिर भी बैग को लेकर आपकी बस के पीछे-पीछे भागा, क्योंकि मुझे आशा थी कि आप बैग की खातिर अगले स्टाप पर अवश्य उतर जाएंगे और बहुत संभव है कि पीछे लौटते हुए बैग को ढूंढ़ते हुए यहां तक चले आएं। इस प्रकार रास्ते में कहीं न कहीं आपसे भेंट होने की आशा में मैं अपनी ओर से जितना तेज भाग सकता था भागा। किन्तु कहीं भी आप मुझे दिखाई न दिए।

तभी मुझे बैग पर आपका नाम और पता लिखा हुआ दिखाई दिया। उसके अनुसार मैं आपको ढूंढ़ता हुआ आपकी सेवा में उपस्थित हूं। मुझे प्रसन्नता है कि इस बैग का असली मालिक मुझे मिल गया है। अब आप इसे खोलकर देख लीजिए कि आपकी कोई वस्तु खोई तो नहीं ?"

मैंने खोलकर देखा कि मेरी सब चीजें ठीक थीं। अपना बैग मिल जाने की मुझे खुशी थी, पर इसके कारण एक विद्यार्थी को दो-अढ़ाई घंटे तक जो दौड़-धूप करनी पड़ी उसके लिए मुझे खेद भी था इसलिए मैंने उससे पूछा—"तो क्या आप यहां तक पैदल ही आए ?"

सचदेव—"जी हां, मैं पैदल ही आया हूं।"

"मैं—"तब तो आपको बड़ा कष्ट हुआ, विशेषकर दोपहर की कड़ी धूप में !"

सचदेव—"आपके पास आने में मुझे आनन्द हुआ।"

मैं—"लेकिन बैग में पैसे होते हुए भी आपको इतना पैदल चलना पड़ा इसका मुझे बड़ा दुःख है। आपने इसे खोलकर पैसे देख क्यों नहीं लिए ?"

सचदेव—"पराई वस्तु को लेना तो दूर उसे छूना भी मेरा कर्त्तव्य नहीं श्रीमान् !"

मैं—"किन्तु मेरे पास पहुंचने के लिए तो आप किराया खर्च

कर सकते थे। वह तो मेरा काम था न !"

सचदेव—"आपके पास बैग पहुंचाना मेरा अपना कर्तव्य था श्रीमान् ! अच्छा अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं चलता हूं।"

मैंने बैग में से बीस रुपये निकालकर सचदेव की ओर बढ़ा दिए।

सचदेव—"ये रुपये किसलिए आप मुझे दे रहे हैं, श्रीमान् ?"

मैं—"यह आपकी सचाई के लिए एक तुच्छ-सा पुरस्कार है।"

सचदेव—"श्रीमान् जिसे आप मेरी सचाई कहते हैं वह तो ईश्वर का वरदान है जो मुझे अध्यापकों द्वारा प्राप्त हुआ है। आपकी खोई हुई वस्तु आपके पास पहुंचाकर मुझे जो प्रसन्नता मिली है वह लाखों रुपये खर्च करके भी कहीं दूसरी जगह नहीं मिल सकती थी।"

इस प्रकार मुझ पर उपकार करके भी सचदेव ने जो नम्रता दिखाई उसके कारण उसने मेरा हृदय जीत लिया। और तो कुछ मैं उसे दे नहीं सकता ! केवल आपके पास एक पत्र लिखकर मैं आपके पास संदेश पहुंचा देना चाहता हूं कि जिस विद्यालय में सचाई की ऐसी शिक्षा दी जाती है उससे अच्छा कोई दूसरा विद्यालय मुझे दुनिया में दिखाई नहीं देता और जहां सचदेव जैसे सच्चे बच्चे पढ़ते हों उससे बढ़कर खुशकिस्मत कोई दूसरा स्कूल नहीं। इसके लिए आप मेरी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

आपका

'क'.........

तीसरा पुरस्कार : सच्ची सावित्री

शिक्षा अधिकारी—इस प्रतियोगिता का तीसरा पुरस्कार विद्यालय नम्बर तीन की छात्रा दयावती को दिया जाता है।

उसके अनमोल गुणों की घटना सुनाएंगी उसकी सखी कुमारी प्रभा !

प्रभा—"वह दिन सचमुच कितना अच्छा था जब मैं विद्यालय नम्बर तीन स्कूल में दाखिल हुई थी। मेरे लिए इससे भी अधिक खुशी का क्षण वह था जब यहां मुझे दयावती जैसी सखी मिल गई। सच पूछिए तो मैं सखियां-सहेलियां बनाने से बहुत डरती हूं, क्योंकि मैं एक गरीब घर की लड़की हूं। कुछ वर्ष हुए मेरे पिता एक दुर्घटना में घायल होकर इस दुनिया से चल बसे थे। तब मैं बहुत छोटी थी। मुझसे बड़ी एक बहन और एक भाई भी है। हम तीनों को हमारी मां ने बड़ी मुसीबतों से पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। उसने लोगों के जूठे बर्तन मांज-मांजकर और कपड़े सी-सीकर हमारा पालन-पोषण किया। इसलिए उनकी कमाई का एक-एक पैसा हमारे लिए सोने की अशर्फियों से भी महंगा और गंगाजल से भी अधिक पवित्र है। भला ऐसे अनमोल धन को मैं व्यर्थ के कामों में कैसे ख़र्च कर सकती हूं ? जबकि मेरा विश्वास है कि आजकल की अधिकतर सखियां खान-पान, सैर-सपाटे और सिनेमा-पिक्चर देखने की साथिन होती हैं। इसी कारण से मैं सहेलियां बनाने से बहुत कतराती हूं।"

"इस विद्यालय में आकर भी मैं अपने काम से काम रखती थी। परिचय मेरा सबके साथ था। श्रेणी और पढ़ाई के काम में मैं सबके साथ रहती थी पर इससे आगे न मैंने किसी से अधिक स्नेह बढ़ाया और न मैं यह चाहती थी कि कोई मेरे साथ घनिष्ठता बढ़ाए। मैं अधिक धनी, अधिक सुन्दर और अधिक लड़कियों से तो बहुत ही घबराती हूं, क्योंकि ईश्वर की कृपा से उन्हें धन, सुन्दरता या योग्यता का वरदान मिला है। इस कारण वे अपने-आपको दूसरों से बड़ा समझने लगती हैं और

साधारण लड़कियों से मिलना-जुलना अपनी शान के विरुद्ध मानती हैं। मैं डरती हूं कि न जाने हमारी कौन-सी बात उन्हें बुरी लग जाए। इसलिए साथिनों के साथ व्यवहार में मैं बहुत फूंक-फूंककर कदम रखती हूं। इस विद्यालय में भी बहुत दिनों तक मेरी यह नीति और आदत रही। जब खाली समय में दूसरी लड़कियां अपनी टोलियां बनाकर खाती-पीतीं, हंसती-खेलतीं और गप्पें लड़ातीं तब भी मैं अपनी ही मौज में रहना पसन्द करती थी।

महीनों तक मेरी ओर किसी लड़की का विशेष ध्यान नहीं गया। मैं इसे अपनी खुशकिस्मती ही समझती हूं। मेरी बदकिस्मती यह हुई कि बरसात के तीन-चार महीनों तक माताजी काफी बीमार रहीं। यूं तो मैं सदा ही सिलाई के काम में उनका हाथ बंटाती हूं, किन्तु उन दिनों में सिलाई का सारा काम मुझे ही करना पड़ा। पढ़ाई पर इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। परिणाम यह हुआ कि मैं गणित में कमजोर रह गई। पहले मैं सबसे पहले सुनाने और काम दिखाने वाली लड़कियों में एक थी, अब स्थिति यहां तक आ पहुंची कि मुझे श्रेणी में डांट तक पड़ने लगी।

मेरी इस कमजोरी से विद्यालय में दो व्यक्तियों को विशेष चिंता हुई—हमारी अध्यापिका जी और दयावती को। तब तक दयावती से मेरी कभी कोई विशेष बातचीत न हुई थी। किन्तु अब वह मेरे अधिक पास आने का यत्न करती थी। एक दिन खाली घण्टा में उसने मुझे कहा—'आज गणित के बहुत से सवाल मिले हैं। आओ, मिलकर कर लें। जल्दी हो जाएंगे।'

यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरे साथ गणित का काम करने से उसे कोई लाभ न था। वह होशियार लड़की थी और मैं कमजोर। इसलिए उस समय मैं उसके दिल की बात

बिलकुल न समझ सकी। फिर भी मैं उसके साथ काम करने को तैयार हो गई। उसकी मदद से हमारे सवाल झटपट निकलने लगे। किन्तु एक बार भी उसने मुझ पर यह प्रकट नहीं होने दिया कि वह मुझ पर दया कर रही है या मेरी मदद कर रही है। उल्टा वह रह-रह कर कह देती—'वाह! तुम्हारे साथ काम करने में तो बड़ा आनंद आता है।'

फिर तो वह हर रोज ही मेरे साथ बैठकर गणित का काम करने लगी। अब मुझे भी यह समझते देर न लगी कि वह मुझे कमजोर जताए बिना कितनी कुशलता से मेरी मदद कर रही है। उसके इस प्रयत्न से महीने डेढ़-महीने में ही मेरी कमजोरी बिलकुल दूर हो गई और मेरी गिनती फिर होशियार लड़कियों में होने लगी। इसका एक अच्छा परिणाम यह हुआ कि अब तक मैं जो सहेलियां बनाने से कतराती थी अब जीवन में पहली बार अनजाने ही मैंने उसे अपनी सहेली समझ लिया।

एक दिन एक अद्भुत घटना घट गई जिसे मैं जीवन-भर नहीं भुला सकूंगी। उस दिन बोर्ड की परीक्षा के लिए हमारा दाखिला लिया जा रहा था। मैं भी दाखिले के पचास रुपये अपने घर से लाई थी। वे मैंने बड़ी सावधानी से अपनी एक पुस्तक में रख दिए थे। जब अध्यापिका जी को रुपये देने की मेरी बारी आई तो मैं क्या देखती हूं कि पुस्तक में से रुपये गायब हैं। मैंने पुस्तक के एक-एक पन्ने को कई-कई बार उलट-पलटकर देख लिया, पर वहां रुपये हों तो मिलें। स्पष्ट था किसी ने अवसर पाकर रुपये निकाल लिए थे। मुझे काटो तो खून नहीं। चिंता और भय से मैं इतनी व्याकुल हो गई कि किसी से बात कहने की भी मुझे सुध न रही। अनायास मेरी आंखों से टप-टप आंसू बहने लगे।

अध्यापिका जी ने पूछा तो मेरे मुख से केवल यही निकला—

'मैं फीस कल दे दूंगी।'

अध्यापिका जी—'आज ही फीस भेजने की अंतिम तारीख है। आज ही कहीं से रुपयों का प्रबन्ध करके फीस दे दो नहीं तो तुम परीक्षा में न बैठ सकोगी।'

अब मेरे लिए स्कूल में बैठे रहना असम्भव हो गया और मैं निराश होकर चुपके से अपने घर चली गई। उस समय अध्यापिका जी के सिवाय वहां कोई और न बैठा था। इसलिए इस घटना की किसी को कानोंकान खबर तक न हुई। पर न जाने दयावती कहां बैठी यह सब कुछ सुन रही थी। मैंने उसे वहां कहीं नहीं देखा। घर जाते समय मैंने अपनी आंखों से आंसू पोंछ लिए ताकि मां को कुछ पता न चले। पहले ही वह महीनों से रोगी थी। इतनी बड़ी चोट को वह कैसे सहन करेगी—यह सोचकर मैंने अपना दिल पक्का कर लिया और मां को कुछ पता तक न चलने दिया। पर तब मेरे दिल पर क्या बीत रही थी, यह मैं जानती हूं या मेरा भगवान् जानता है। मैं परीक्षा की ओर से बिल्कुल निराश हो चुकी थी और मुझे अपनी आंखों के सामने अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देने लगा।

उस समय मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब थोड़ी देर बाद हमारी श्रेणी की पड़ोसिन लड़कियां आईं और वे मुझे फीस के पचास रुपये की रसीद दे गईं। भला दयावती के बिना इतनी बड़ी राशि चुपचाप देने का काम और कौन कर सकता था!

किन्तु इतने पैसे उसके पास कहां से आए? मैं जानती थी कि उसके पिता धनी नहीं हैं। केवल रोटी-कपड़े का गुजारा है। इसलिए आनन-फानन में तो इतने रुपयों का प्रबन्ध हो नहीं सकता।

तभी मुझे याद आया—हो न हो, ये वही रुपये हैं जो उसने पैसा-पैसा करके पिछले बारह महीनों में जमा किए थे। आज

उन्हीं रुपयों से अपने लिए वह नाईलोन की नई साड़ी खरीदने के लिए जा रही थी। मेरी बुरी हालत देखकर उसने मेरे लिए अपनी आवश्यकताओं का और अपने चाव का बलिदान कर दिया और चुपचाप रुपये मेरे हाथ पर रख दिए मानो वह पचास रुपये न होकर केवल पचास पैसे हों। ऐसी उदार और दूसरों के लिए त्याग करने वाली सखी आज तक न मैंने कभी देखी थी और न भविष्य में शायद देखने को मिलेगी।"

□ □

